

No. 057552

Lo. 43.14



वर्ष २४

म

अंक



१

६

७

३

अंक ७

— बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी द्वारा मान्य जैन शोध-केन्द्र —

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

जैन इंस्टिट्यूट

आई. टी. आई. रोड, वाराणसी-५

सम्पादक

डा० मोहनलाल मेहता

सह-सम्पादक

श्री हरिहर सिंह

श्री धन्यकुमार राजेश

प्रस्तुत अंक में :

- |                                                                          |    |
|--------------------------------------------------------------------------|----|
| १. महावीर-घाणी—                                                          | १  |
| २. भारतीय साहित्य की रमणीय काव्य रचना : गडडवहो<br>—श्री श्रीरंजन सूरिदेव | ३  |
| ३. जैन दर्शन में योग का प्रत्यय —श्री प्रेमकुमार अग्रवाल                 | ८  |
| ४. कन्नड में जैन साहित्य —पं० के० भुजबली शास्त्री                        | १३ |
| ५. भक्तामर की एक और सचित्र प्रति<br>—श्री अगरचंद नाहटा                   | २१ |
| ६. विश्वेश्वरकृत शृंगारमंजरी-सट्टक का अनुवाद<br>—डा० के० आर० चन्द्र      | २५ |
| ७. स्वयंभू की गणधर-परम्परा —डा० देवेन्द्रकुमार जैन                       | ३१ |
| ८. जैन मिस्ट्रीसज्ज —प्रो० यू० ए० आसरानी                                 | ३२ |

वार्षिक

छः रुपये

एक प्रति

पचास पैसे

यह आवश्यक नहीं कि लेखक के विचारों से सम्पादक अथवा संस्थान सहमत हो।



जैनविद्या का मासिक

वर्ष २४

मई १९७३

अंक ७

## महावीर-वाणी

( १ )

जो न सज्जइ आगन्तुं, पव्वयन्तो न सोयई ।  
रमइ अज्जवयणम्मि, तं वयं बूम माहणं ॥

जो आनेवाले स्नेही जनों में आसक्ति नहीं रखता, जो जाता हुआ शोक नहीं करता, जो आर्य-वचनों में सदा आनन्द पाता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

( २ )

जायरूवं जहामट्टं, निद्धन्तमल-पावणं ।  
राग-दोस-भयाईयं, तं वयं बूम माहणं ॥

जो अग्नि में डालकर शुद्ध किये हुए और कसौटी पर कसे हुए सोने के समान निर्मल है, जो राग, द्वेष तथा भय से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

( ३ )

तवस्सियं किसं दन्तं, अवचियमंससोणियं ।  
सुब्बयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ॥

जो तपस्वी है, जो दुबला-पतला है, जो इन्द्रिय-निग्रही है, उग्र तपः-साधना के कारण जिसका रक्त और मांस भी सूख गया है, जो शुद्धव्रती है, जिसने निर्वाण ( आत्मशान्ति ) पा लिया है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

( ४ )

तसपाणे वियाणित्ता, संगहेण य थावरे ।  
जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं बूम माहणं ॥

जो स्थावर, जंगम सभी प्राणियों को भलीभाँति जानकर, उनकी तीनों ही प्रकार से कभी हिंसा नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

( ५ )

कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया ।  
मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं ॥

जो क्रोध से, हास्य से, लोभ से अथवा भय से—किसी भी मलिन संकल्प से असत्य नहीं बोलता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

( ६ )

चित्तमन्तमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं ।  
न गिण्हाइ अदत्तं जे, तं वयं बूम माहणं ॥

जो सचित्त या अचित्त कोई भी पदार्थ—भले ही फिर वह थोड़ा हो या ज्यादा—मालिक के सहर्ष दिये बिना नहीं लेता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

( ७ )

द्विब्ब—माणुस—तेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुणं ।  
मुणसा काय-वक्केणं, तं वयं बूम माहणं ॥

मनुष्य-देवत, मनुष्य तथा तिर्यञ्च सम्बन्धी सभी प्रकार के मय्युन का मन, वाणी और शरीर से कभी सेवन नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

। षणीति

॥ ण्हाण

-पत्त रत्त ।ई डिअनी-पत्त

।ई तिअहाइ ति ।ई ण्हाण

। ई डिअक ण्हाण म

# भारतीय साहित्य की रमणीय काव्य-रचना : गउडवहो

श्री श्रीरंजन सूरिदेव

सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं ऐतिहासिक तत्त्वों से ओतप्रोत प्राकृत के शास्त्रीय महाकाव्यों में कविराज वावपति-प्रणीत 'गउडवहो' शीर्षण्य माना गया है। आर्या छन्द में निबद्ध यह एक ऐतिहासिक मूल्य रखने वाला प्राकृत का देदीप्यमान काव्यरत्न है। इस काव्य का अध्ययन भी संस्कृत-काव्यों के अध्ययन के सन्दर्भ में अपनी अनिवार्यता रखता है। चित्त को चमत्कृत करने वाली शैली में उपन्यस्त इस प्राकृत-काव्य के प्रकाश में ही भास, कालिदास; सुबन्धु, भवभूति, हरिश्चन्द्र आदि कवियों के संस्कृत काव्यों का सही एवं सांगोपांग अध्ययन क्रिया जा सकता है।

कान्यकुब्ज (कन्नौज) के अधिपति यशोवर्मा द्वारा गौडदेश (प्राचीन पश्चिम बंगाल) के किसी राजा का वध ही इस विच्छित्तिपूर्ण काव्य का संक्षिप्त मूलकथ्य है। गौडराजा का स्पष्ट नामोल्लेख मूल पुस्तक में नहीं है। यशोवर्मा की स्तुति के सन्दर्भ में उसके खड्ग की प्रशंसा करते हुए कवि ने केवल 'गौडगलच्छेद' का उल्लेख किया है :

तुह धारा-संसाणिअ-गइन्द-मुत्ताहलो असो जयइ ।

'गउड-गलच्छेदअ'-वलग्ग-संठिएआवली ओव्व ॥ गाथा ११६४.

महाराष्ट्री प्राकृत की कुल १२०६ गाथाओं या आर्याओं में आबद्ध इस काव्य में चरितनायक के प्रति कवि की प्रशंसामुखर आदर्शवादिता, ऐतिहासिक समसामयिकता-बोध की वर्णन-विपुलता और प्राकृतिक चित्रण की प्राणवत्ता का त्रिवृत्त्यात्मक संयोजन है। प्राकृत के कवियों द्वारा अपने-अपने काव्यों के प्रस्तुतीकरण में अन्तरंग और बहिरंग कथाशिल्प की जो स्थापना की गई है, उसमें नव्यवादिता का आग्रह सुस्पष्ट दिखाई पड़ता

है। अर्थात् शिल्प और भाव की दृष्टि से प्राकृत के कवि कुछ नया कहना और कुछ नया दिखाना चाहते हैं। संस्कृत काव्यों की वर्णन-परम्परा में प्राकृत-कवियों ने अपनी कृतियों के माध्यम से संशोधन और विकास लाने की चेष्टा बराबर की है।

वाक्पतिराज ने भी भवभूति के काव्योत्कर्ष की प्रभा से भास्वर अपने इस काव्य की स्वीकृत कथावस्तु में भावों को वर्णन की अभिनव भंगिमाएँ तो दी ही हैं, ग्रन्थ के वर्ण्य विषयों को तथाप्रथित सर्गों या परिच्छेदों में विभक्त न करके 'कुलकों' में किया है। सर्वाधिक बृहत् 'कुलक' १५० आर्याओं का है और सबसे छोटा कुलक पाँच आर्याओं का। प्राकृत का भाषिक वैभव, अलंकृत सुन्दर पद-विन्यास, उत्प्रेक्षाओं का अतिनूतन संयोजन आदि काव्यगुणों के उत्कर्ष से निस्सन्देह यह काव्य अतिशयश्लाघ्य और उदात्त बन गया है। और अपनी उदात्त एवं अलंकृत शैली के कारण ही इस काव्य ने शास्त्रीय महाकाव्य की गरिमा आयस कर ली है।

इस प्रसंग में शिव के मस्तक पर विराजित चन्द्रमा के निमित्त कविराज वाक्पति की पत्नी सूज्ञ की एक झाँकी :

तं णमद कामणेहा अज्जवि धारेइ जो जडाबद्धं ।

तइअ णयणग्गि—णिवडय—कय—ववसायंपिवमियङ्कं ॥ गा० ३०.

अर्थात् शिवजी ने अपने तीसरे नयन से कामदेव को दग्ध कर दिया है। मित्र की दुरवस्था देखकर चन्द्रमा दुःखी है और स्वयं अपने मित्र के स्नेहवश शिव के तीसरे नेत्र में कूदने को उद्यत है। इस व्यवसाय से रोकने के लिए ही मानों शिवजी ने उसे (चन्द्रमा को) अपनी जटाओं में कसकर बाँध रखा है।

वसन्तवर्णन के क्रम में कवि की एक अपूर्व अभिराम उत्प्रेक्षा द्रष्टव्य :

इह सोहन्ति—दरुमिल्ल—किसलयायम्बिरच्छि बत्ताइं ।

पाविय—पडिबोहाइवं सिसिर—पसुत्ताइं रण्णाइं ॥

अर्थात् वसन्तऋतु में वृक्षों की नई कोपलें ताम्ररंग से मनोहर प्रतीत हो रही हैं। इससे ऐसा लगता है कि जैसे शिशिर में सोये जंगल वसन्त में एकबारगी जग गये हैं एवं कोपलों की आँखें खोलकर इधर-उधर ताक रहे हैं। नई कोपलें क्या हैं, मानों जगे हुए जंगलों की लाल-लाल आँखें हैं।

**रचनाकार :** प्रकृति-सौन्दर्य के आराधक कवि वाक्पतिराज का समय आचार्य बलदेव उपाध्याय के मतानुसार ईसवी की आठवीं शती का पूर्वार्द्ध है।<sup>१</sup> किन्तु पं० दुर्गाप्रसाद द्विवेद ने टिप्पणी करते हुए इस कवि का समय ईसवी सातवीं शती का उत्तरार्द्ध निर्धारित किया है।<sup>२</sup> यह तो विचिकित्सा-विहीन तथ्य है कि कविराज के लांछन से युक्त वाक्पतिराज (वप्पइराज) अपने काव्य के नायक तथा आश्रयदाता राजा यशोवर्मा का समकालीन था एवं यशोवर्मा के सभाकवियों में इसका दूसरा स्थान था। 'राजतरंगिणी'<sup>३</sup> के अनुसार 'उत्तररामचरित' जैसे प्रसिद्ध करुण नाटक का विख्यात लेखक भवभूति भी कान्यकुब्जेश्वर यशोवर्मा के सभाकवियों में अन्यतम स्थान रखता था। इससे स्पष्ट है कि वाक्पतिराज भवभूति ( ई० ७-८वीं शती) का समकालीन था। प्रसंग भी है :

कविर्वाक्पतिराजश्री भवभूत्यादिसेवितः ।

जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम् ॥

इसके अतिरिक्त वाक्पतिराज द्वारा 'गौडवध' की गाथा ७६६ में उल्लिखित 'भवभूति' शब्द से भी इस कवि की भवभूति से समकालकता सिद्ध होती है। गाथा है :

भवभूइ-जलहि-निगगय-कव्वामय-रसकणा इव फुरन्ति ।

जस्स विसेसा अज्जवि वियडेसु कहा-णिवेसेसु ॥

इस गाथा में प्रयुक्त 'अज्जवि' ( अद्यापि ) शब्द संकेतित करता है कि भवभूति वाक्पतिराज का वृद्ध-समकालीन था और यशोवर्मा के राज्यकाल में उसकी कविता वाक्पतिराज की कविता से पहले ही प्रसिद्ध हो चुकी थी। इसलिए वाक्पतिराज ने उक्त गाथा में भवभूति के काव्य का प्रभावस्पर्श ग्रहण करने के निमित्त उसके प्रति विनम्र आभार-प्रदर्शन किया है।

१. सस्कृत-साहित्य का इतिहास, काशी, १९४८, पृ० १८६.

२. साहित्यदर्पण, निर्णयसागर प्रेस-संस्करण, १९३१, भूमिका, पृ० ५६ की छाया ( टिप्पणी ).

३. राजतरंगिणी, ४. १३४.

**रचनाकाल :** डा० स्टीन के मतानुसार एवं कल्हण की 'राजतरंगिणी' के अन्तरसाक्ष्य के आधार पर यह प्रमाणित है कि कश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्तापीड ने कन्नौज के राजा यशोवर्मा को पराजित कर अपना वशंवद बनाया था। यह घटना ७३६ ई० के आसपास की है। वाक्पतिराज ने 'गउडवहो' काव्य में यशोवर्मा की कीर्तिकथा का कीर्तन किया है। ज्ञातव्य है कि यह काव्य अपूर्ण ही रह गया है। इनसे यह अनुमान होता है कि वाक्पतिराज ने यशोवर्मा के विजयकाल में इस काव्य की रचना प्रारम्भ की थी, किन्तु समकालीन राजा ललितादित्य द्वारा यशोवर्मा के पराजित होने पर इसे अपूर्ण ही छोड़ दिया। चूँकि ललितादित्य का समय ७२४ ई० से ७६० ई० तक माना जाता है इसलिए वाक्पतिराज के ७६० ई० के आसपास वर्तमान होने का जो अनुमान डा० नेमिचन्द्र शास्त्री<sup>१</sup> ने किया है या डा० जगदीशचन्द्र जैन<sup>२</sup> ने जो वाक्पतिराज के स्थितिकाल को ७५० ई० में माना है, वह असंगत नहीं प्रतीत होता। परन्तु 'गउडवहो' की ८२६वीं गाथा में सूर्यग्रहण<sup>३</sup> का संकेत मिलता है। डा० याकोबी ने इस सूर्यग्रहण का काल १४ अगस्त, ७३३ ई० निश्चित किया है। इसलिए 'गउडवहो' की रचना इसी समय हुई होगी। इससे आचार्य बलदेव उपाध्याय की खृष्टाब्द अष्टम शतक के पूर्वार्द्ध में वाक्पतिराज के विद्यमान होने की बात भी यथार्थ से दूर नहीं है। उपर्युक्त काल-विवेचन से यह निर्णीत है कि कविराज वाक्पतिराज का काल ईसा की आठवीं शती है।

आठवीं शती के इस विदग्ध एवं पण्डित कवि की 'मधुमह-विअअ' (मधुमथविजय) नामक एक दूसरी काव्यकृति की भी सूचना मिलती है। परन्तु यह दुष्प्राप्य है। इस काव्य का उल्लेख अभिनवगुप्त के 'ध्वन्यालोक' (१५२-१५) तथा हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' की 'अलंकारचूडामणिवृत्ति' (१.२४ ८१) में हुआ है। कहने की अपेक्षा नहीं होगी कि रचना की विरलता

१. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलाचनात्मक इतिहास, पृ० २७५.
२. प्राकृत साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण, वाराणसी, सं० २०१८, पृ० ५८६.
३. रोस-धुय-चलण-तेलोकक-लच्छि-विच्छूढ-णेउरच्छायं ।  
विवराह-केउभिण्णं रविबिम्बं वियलइ नहम्मि ॥ गा० ८२६.

के बावजूद अप्रतिम प्रतिभा से सम्पन्न एवं लोकप्रतिष्ठ इस कवि ने सम्पूर्ण काव्य-समुद्र में अपने वैदुष्य का कभी न झुकनेवाला पोतध्वज फहरा दिया है।

**निष्कर्ष :** संस्कृत-महाकाव्यों के अध्ययन के क्रम में इस प्राकृत-महाकाव्य के अध्ययन की अनिवार्यता इसलिए है कि प्रवरसेन की तरह वाक्पतिराज ने भी संस्कृत-महाकाव्यों के प्रणयन के युग में बड़े ही बेजोड़ ढंग से प्राकृत-काव्य की रचना की। इस काव्य के ऋतु-सौन्दर्य एवं प्रकृति-वैभव के चित्रण की पद्धति संस्कृत-काव्य की शैली से प्रभावित होकर भी विशिष्ट है। संस्कृत के न्यायशास्त्र, छन्द, पुराणेतिहास आदि साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विषयों को अपने विशिष्ट ग्रन्थ के समस्त सन्दर्भों और आयामों के साथ महिमा-मण्डित करने वाले इस युगकवि ने भारतीय इतिहास के एक प्रमुख अध्ययन-पक्ष को उज्ज्वल कल्प प्रदान किया है।

संस्कृत की परिप्रेक्ष्यता के बावजूद वाक्पतिराज के नाद-सौन्दर्य की ओजस्विता या शब्दों के सुप्रयोग की विलक्षणता में अर्थसूक्ष्मता का हृदय-हारी अन्तरंग दर्शन होता है। कवि वाक्पतिराज शब्दशिल्पी है। यद्यपि इसने संस्कृत कवियों की विषय-वस्तु, सन्दर्भ-शैली और रचना-भंगिमा का निस्संकोच भाव से उपयोग किया है, तथापि इसकी शिल्प-चेतना भिन्न है।

सच पूछिए तो संस्कृत और प्राकृत-महाकाव्यों की विभाजक रेखा अधिक स्पष्ट नहीं है। इसलिए संस्कृत काव्य के अध्ययन की सांगता के लिए प्राकृत-काव्य का अध्ययन अनिवार्य है। संस्कृत की सांस्कृतिक चेतना के आधार पर प्राकृत-महाकाव्य-रचयिताओं में प्रवरसेन ने जहाँ संस्कृत के रामकाव्य को नई भावभूमि दी, वहीं वाक्पतिराज ने भारतीय इतिहास के साहित्यिक चिन्तन के लिए रमणीय रचना का संस्कार जागरित किया।



# जैन दर्शन में योग का प्रत्यय

श्री प्रेमकुमार अग्रवाल

‘योग’ शब्द ‘युज्’ धातु से ‘घञ्’ प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न होता है, जिसका सामान्य अर्थ है — जोड़ना, संयुक्त करना अथवा मिलाना; परन्तु प्राचीन भारतीय साहित्य में इस शब्द का व्यवहार विभिन्न एवं व्यापक अर्थ में हुआ है। उपनिषदों में योग का अर्थ ब्रह्म-साक्षात्कार कराने वाली क्रिया के रूप में स्वीकार किया गया है, शांकर दर्शन आत्मा एवं परमात्मा के अभेद ज्ञान के रूप में योग की चर्चा करता है, गीता कर्म की कुशलता को योग की संज्ञा देती है—‘योगः कर्मसु कौशलम्’, पतंजलि दर्शन चित्तवृत्ति के निरोध को योग मानता है, अधुनातन सुप्रसिद्ध रहस्यवादी संत श्री अरविन्द समस्त जीवन को ही योग मानते हैं, किन्तु जैन दर्शन योग की परिभाषा आत्म-शुद्धि कराने वाली प्रक्रिया के रूप में करता है। चाहे उपर्युक्त रूप में अथवा अन्य किसी प्रकार से योग का लक्षण निश्चित किया जाय, किन्तु इन सबके मूल में कोई विशेष अन्तर दृष्टिगत नहीं होता, क्योंकि योग को प्रायः सभी दर्शन, प्रकारान्तर से आत्मा को उत्तरोत्तर विकसित करनेवाले एक साधन-रूप में स्वीकार करते हैं।

आत्म-विकास के लिए योग एक प्रमुख साधना है। भारतीय संस्कृति में समस्त विचारकों, तत्त्वचिन्तकों एवं ऋषि-मुनियों ने योग-साधना की महत्ता को स्वीकार किया है। बौद्ध धर्म के पालि त्रिपिटकों तथा संस्कृत ग्रन्थों में योग की प्रक्रिया का विशेष रूप से वर्णन प्राप्त होता है। बौद्ध विचारकों ने योग का अर्थ ‘समाधि’ किया है जो निर्वाण-प्राप्ति में सहायक है। महावीर स्वयं योगी थे, जैन धर्म में योगिक-विवेचन स्पष्टतया देखा जा सकता है। तंत्रों में योग का महत्त्वपूर्ण स्थान प्रसिद्ध ही है। गोरक्षनाथ का ‘नाथ सम्प्रदाय’ योग की विलक्षणता के कारण ही ‘योगी’ सम्प्रदाय के नाम से विख्यात है। नाथपंथी सिद्ध ‘हठयोग’ के आचार्य थे। इसके अतिरिक्त राजयोग, भक्ति-

योग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, मंत्रयोग आदि विभिन्न योगिक पद्धतियाँ योग के महत्त्व को दर्शाती हैं। योग के द्वारा आत्म-दर्शन करना ही परम धर्म कहा गया है—‘अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्’; क्योंकि आत्मसाक्षात्कार अथवा मोक्ष-लाभ ही साधना का चरम उद्देश्य है, अन्यथा दुःख-निवृत्ति का दूसरा कोई सुगम मार्ग नहीं है। सम्प्रति विभिन्न योगों की विवेचना न कर हम यहाँ केवल जैन मतानुसार योग के स्वरूप का निरूपण करेंगे।

महर्षि पतंजलि ने जिस प्रकार ‘योग’ शब्द का रूढ़ार्थ ‘योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः’ के रूप में आत्मसाधना के लिए प्रयुक्त किया है, उस प्रकार का अर्थ जैनागमों में उपलब्ध नहीं होता। जैनागमों में मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को योग कहा गया है। इन प्रवृत्तियों को आस्रवरूप माना गया है जिसके कारण जीव बन्धन में पड़ता है, क्योंकि मन, वचन एवं काय के सूक्ष्म व्यापार से ही कर्मोत्पत्ति होती है। अतः ब्यातव्य है कि जैन दर्शन में ‘योग’ को चित्तवृत्ति के निरोध के रूप में स्वीकार न कर, एक शक्ति विशेष के रूप में ग्रहण किया गया है जो कर्माणुओं को आत्मा से सम्बन्धित कराता है।

परन्तु योग-प्रक्रिया अथवा योग-साधना को व्यक्त करने वाले—ध्यान, तप, समाधि एवं संवर आदि अनेक शब्दों का व्यवहार आगमों में हुआ है जो प्रकारान्तर से योग-साधना के समर्थ अंग हैं। जैन दर्शन के अनुसार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग (प्रवृत्ति) से रंजित कर्म ‘आस्रव’ हैं और इनके प्रावृत्तिक निरोध को ‘संवर’ कहा गया है। इस प्रकार आस्रव का निरोध ही संवर है। कालान्तर में, आस्रवनिरोध के रूप में जैन-योग की परिभाषा योगसूत्र के ‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः’ के अर्थ में की जाने लगी और वस्तुतः इस दृष्टि से योग के अर्थ में दोनों मतों में साम्य दिखायी देता है।

पतंजलि योग दर्शन-सम्मत ‘योग’ शब्द का प्रयोग जैन परम्परा में सर्वप्रथम हरिभद्र ने किया। उनके मतानुसार मोक्ष-प्राप्ति हेतु जिस धर्म-क्रिया अथवा विशुद्ध व्यापार की आवश्यकता होती है, वह धर्म-व्यापार योग है।<sup>१</sup> यम-नियमादि व्यापार मन, वचन एवं काय द्वारा अर्जित कर्म-परिणामों की शुद्धि हेतु किये जाते हैं। इस दृष्टि से समिति, गुप्ति आदि

१. मुक्त्सेण जोयणाजो, जोगो सब्बो वि धम्मवावारो ।—योगविशिका, १.

आचार-विचारों का अनुष्ठान उत्तम योग कहा गया है<sup>१</sup>, क्योंकि इनके द्वारा संयम में वृद्धि होकर आत्म-विशुद्धावस्था का मार्ग प्रशस्त होता है। हेमचन्द्र ने मोक्षसाध्य रूप योग को ज्ञान, श्रद्धान एवं चारित्रात्मक कहा है।<sup>२</sup> इस प्रकार आत्मशुद्धि एवं मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले समस्त साधनों को 'योग' को संज्ञा दी गयी है।

योग के सन्दर्भ में उसकी आधारशिला पर भी दृष्टिपात कर लेना अत्यावश्यक है। योग को दृढ़ एवं फलप्रद बनाने के लिए आचार को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है, क्योंकि मोक्षप्राप्ति के लिए विशुद्ध आचरण की अपेक्षा की गयी है। विशुद्ध आचरण के अभाव में योगारूढ़ स्थिति को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। इस सन्दर्भ में जैन दर्शन आचरण के अन्तर्गत रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का उल्लेख करता है, जो न केवल आचारपूर्ण जीवन के रत्न हैं अपितु योग भी हैं। इनके पालन से जीवों के वासनाजन्य कर्मों का क्षय हो जाता है और वे मोक्ष के अधिकारी हो जाते हैं। योग के लिए चारित्र आधार-स्तम्भ कहा जा सकता है, क्योंकि साधक इसके द्वारा अपनी अन्तः एवं बाह्य—भोग, कषायादि प्रवृत्तियों को नियंत्रित करके आत्मस्थ होता है। इन त्रिविध योगों की प्रामाणिकता उमास्वातिकृत 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' के प्रथम सूत्र से सिद्ध होती है, जिसमें कहा गया है कि त्रिरत्न मोक्ष के मार्ग हैं—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'।

मन की एकाग्रता एवं विशुद्धता के लिए गुप्ति एवं समिति का भी विधान अपेक्षित माना गया है। गुप्ति मन, वचन एवं काय की अशुभ प्रवृत्तियों का शमन करती है और समिति शुभ प्रवृत्तियों में सदाचारपूर्ण निष्ठा उत्पन्न करती है। परिणामस्वरूप मन एकाग्र हो जाता है और शनैः-शनैः शुभ प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख होने का उसका अभ्यास प्रबल हो जाता है जिससे मोक्षमार्ग की अवरोधक ग्रंथियाँ स्वभावतया दूर हो जाती हैं। समिति-गुप्ति के संयुक्त नाम को 'प्रवचन-माता' कहा गया है।<sup>३</sup>

१. यतः समितिगुप्तीनां प्रपंचो योग उत्तमः।—योगभेदद्वात्रिशिका, ३०.

२. अभिधानचिन्तामणि, १.७७.

३. योगशास्त्र, १.४५; उत्तराध्ययन, २४.१.

योग में ध्यान का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। मन अथवा चित्त अपनी चंचल वृत्तियों के कारण कभी स्थिर नहीं हो पाता है। मन की स्थिरता के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं तप का विधान किया गया है, जिसके सम्यक् पालन से मन आत्मकेन्द्रित हो जाता है। आत्मकेन्द्रीकरण की पराकाष्ठा को ही समाधि की संज्ञा दी गई है। वास्तव में ध्यान एवं संयम अथवा चारित्र्य परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं। जैनयोगानुसार संयम या चारित्र्य की वृद्धि के लिए ध्यान सर्वोत्तम उपाय है। जब चित्त किसी एक विषय पर स्थिर हो जाता है तो वह निर्जरा एवं संवर का कारण बन जाता है।

योग की सिद्धावस्था तक पहुँचने के लिए मुमुक्षु का आध्यात्मिक विकास एकदम नहीं हो सकता, प्रस्थुत उसे इस मार्ग में अपनी नैतिक उन्नति के अनुसार क्रम से आगे बढ़ना पड़ता है। मोक्षमार्ग के इन सोपानों को जैन दर्शन में 'गुणस्थान' कहा गया है और इनकी संख्या १४ बतलाई गई है।<sup>१</sup> गुणस्थान की कल्पना मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित है, जिसकी युक्तिमत्ता को जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शन भी स्वीकार करते हैं। गुणस्थानों की चौदह संख्याओं में मिथ्यात्व से लेकर क्रमशः सिद्धि की अन्तिम श्रेणी तक पहुँचना लक्ष्य माना गया है। अन्तिम दशा 'अयोगकेवल' के उत्पन्न होते ही साधक ऊपर उठने लगता है और लोकाकाश एवं अलोकाकाश के मध्य स्थित पवित्र स्थान 'सिद्धशिला' में निवास को प्राप्त होता है। अनन्तचतुष्टय को प्राप्त कर साधक चरम शान्ति का अनुभव करता है, यही उसके के लिए चरम मुक्तावस्था है।

- 
१. १. मिथ्यात्व ( विवेक-हीनता की दशा ), २. ग्रन्थिभेद ( सत्-असत् के विवेक का उदय ), ३. मिश्र ( निश्चयानिश्चय मिश्रित दशा ), ४. अविरत सम्यक् दृष्टि ( संशयक्षयोत्तर सम्यक् श्रद्धावस्था ), ५. देशविरति ( पापों का आंशिक त्याग ), ६. प्रमत्त, ७. अप्रमत्त, ८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिकरण, १०. सूक्ष्मसम्पराय, ११. उपशान्तमोह, १२. क्षीणमोह, १३. सयोगकेवल ( इस स्थिति में साधक अनन्तज्ञान-सुखसम्पन्न हो जाता है तथा शुक्लध्यान की सहायता से मुक्ति प्राप्त कर लेता है ) और १४. अयोगकेवल ।

योग साधना का मूल ध्येय शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति है, परन्तु साधना-क्रम में साधक को कई प्रकार की योगिक लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। लब्धि का अर्थ है—विशिष्ट शक्ति की प्राप्ति। ये शक्तियाँ अथवा योगिक विभूतियाँ कई प्रकार की हो सकती हैं, यथा आकाशगाभिनीविद्या, परकाय-प्रवेश, दूर-श्रवण आदि; किन्तु इन सिद्धियों का प्रदर्शन व्यक्तिगत स्वार्थ अथवा मनोरंजन हेतु करना सर्वथा त्याज्य है, अन्यथा आत्मतत्त्व की प्राप्ति में वे बाधक सिद्ध हो सकती हैं।

जैनयोग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह श्रावक एवं श्रमणों के लिए अलग आचार-विचारों का विधान प्रस्तुत करता है। साथ ही, आचार-नियमों के पालन में अत्यधिक कठोरता एवं व्यवस्था अन्य दर्शनों की तुलना में कहीं अधिक श्रेष्ठ प्रतीत होता है। जैन दर्शन, योग दर्शन की भाँति प्राणायाम पर विशेष बल नहीं देता है और न ही उसे ध्यानारूढ़ होने के लिए आवश्यक समझता है, यद्यपि लाभ की दृष्टि से उसे अपरिहार्य भी नहीं मानता है। वह विशेष रूप से आचार के त्रिरत्नों पर बल देता है जिसके सम्यक् पालन से सर्वसाधारण प्राणी परमपद की प्राप्ति कर सकता है। प्राणायाम को जैनियों ने हठयोग की संज्ञा दी है। इस सम्बन्ध में हरिभद्र-सूरि ने कहा है कि ध्यान में बलात्कार से श्वासोच्छ्वास का निरोध त्याज्य है। वास्तव में जैन दर्शन का सहज योग उसकी गुरुता को छिपा सकने में असमर्थ है।



# कन्नड में जैन साहित्य

पं० के० भजबली शास्त्री

## द्राविड वर्ग :

तमिल, कन्नड, तेलुगु और मलयालम ये चार द्राविड वर्ग की ग्रन्थिक एवं व्यावहारिक भाषाएँ हैं। इनके अतिरिक्त केवल व्यावहारिक गोंड, तुलु, वडग, कोडगु आदि भाषाएँ भी द्राविड वर्ग की ही उपभाषाएँ हैं। इन द्राविड भाषाओं का कोई एक प्राचीनतम मूल द्राविड भाषा मातृभाषा रही होगी। संशोधक विद्वानों का मत है कि ये मूल द्राविड लोग पश्चिम एशिया तथा पूर्व भूमध्य समुद्र-तरेर प्रदेशों से सर्वप्रथम वायव्य भारत में आये। परन्तु उनके आगमन के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में एकमत नहीं है। अर्थात् भिन्न-भिन्न विद्वानों ने अपना भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किया है। किन्तु उस मूल द्राविड भाषा के स्वरूप आदि को आज स्पष्ट निर्देश करने वाले पर्याप्त प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी सहोदरी भाषाओं के ज्ञाती शब्दों की तुलना के आधार पर कतिपय ध्वनि-समन्वय सूत्रों को खोजकर मूल द्राविड शब्दों के स्वरूप को तर्क-मूलक फिर रचने के लिए भाषाशास्त्रियों ने अवश्य प्रयत्न किया है। पर इसमें और भी विशिष्ट प्रयत्न की आवश्यकता है।

इसमें सन्देह नहीं है कि आर्यों के भारत में आने के पूर्व ही द्राविड लोगों ने अपनी भाषा-संस्कृतियों को समूचे भारत में फैला दिया था। विद्वानों को स्पष्ट राय है कि हरप्पा-मोहनजोदड़ो की सभ्यता के निर्मापक द्राविड लोग ही रहे। हाँ, कन्नड शब्द की निष्पत्ति के बारे में विद्वानों के मतभेद हैं। इसलिए इस सम्बन्ध में इस समय मौन धारण करना ही क्षेम है। ई० पूर्व की कतिपय शताब्दियों में मूल द्राविड भाषा प्रचलित रही इस बात के लिए रामायण तथा महाभारत ही साक्षी हैं। क्योंकि रामायण तथा महाभारत में कई द्राविड देशों का स्पष्ट उल्लेख है। जैसे रामायण में दक्षिण देशों के वर्णन में माहिषक, आन्ध्र, पुंड्र, चोल, पाण्ड्य, केरल आदि नाम आये हैं।

इसी प्रकार महाभारत के प्रभा एवं भीष्म पर्व में द्राविड, केरल, कर्नाटक, कुन्तल, भूषिका, बनवासिका, माहिषिका आदि नाम आये हैं।

ई० पू० लगभग १५०० तक अन्य भाषाओं के सम्पर्क के पूर्व द्राविड भाषाएँ प्रायः शुद्ध ही रही होंगी। बाद में अन्यान्य भाषाओं के सम्पर्क से इनमें परस्पर आदान-प्रदान होते गये। यह ऐतिहास्य है कि तमिल भाषा में ई० पूर्व के शतमानों में ही ग्रन्थ रचे गये थे। पाण्ड्य, चेर और चोल राजाओं के आश्रय में तीन संघों के द्वारा निर्मित साहित्य 'संघ साहित्य' के नाम से विख्यात हुआ। हाँ, द्रविड वर्णों की मूलरू हमें दृष्टिगोचर होनेवाली कृतियाँ लगभग पाँचवीं शताब्दी के मध्यकाल से ही हैं। उसके पूर्व के शासन ब्राह्मी लिपि में ही उपलब्ध हुए हैं। विद्वानों की राय है कि हमारे देश की सभी लिपियों का मूल अशोक की ब्राह्मी लिपि है। पर आज चारों प्रमुख द्राविड भाषाओं की लिपियाँ भिन्न-भिन्न ही हैं। यद्यपि तेलुगु, कन्नड लिपियों में अवश्य सादृश्य है। परन्तु तमिल और मलयालम लिपियों के साथ इनका कोई सम्बन्ध मालूम नहीं पड़ता।

### द्राविड भाषाओं का परस्पर सम्बन्ध :

यद्यपि शब्दरूप और व्याकरण प्रक्रिया में तीन कन्नड तथा तमिल में विशेष साम्य नहीं है। किन्तु सुप्राचीन और प्राचीन कन्नड एवं तमिल में अधिक साम्यता है। इतना साम्य तेलुगु का तमिल और कन्नड के साथ नहीं है। लिपि-सादृश्य एवं शतमानों से राजकीय निकट सम्बन्ध होते हुए भी तेलुगु का कन्नड के साथ भाषा में उतना सादृश्य न होना चरित्र की दृष्टि से अवश्य विचारार्ह है। यों तो मलयालम और तमिल में लिपि और भाषा दोनों में जो साम्य है वह अन्य किसी द्रविड भाषा में नहीं है।

यद्यपि कन्नड का स्वातन्त्र्योदय एवं मूल स्वरूप को आज निर्दिष्ट रूप से बताना कष्टसाध्य है। फिर भी इतना निस्संदेह रूप से कहा जा सकता है कि करीब २००० वर्षों से कन्नड देश तथा भाषा दोनों स्वतंत्र रूप से वर्धमान होते आये हैं। ग्रीक प्रवासी टालेमी ( ई० सन् १५० ) ने कर्नाटक के अनेक प्रसिद्ध नगर एवं बन्दरगाहों का उल्लेख अपनी भाषा में तद्भव रूप में किया है। जैसे : बनवासि, मुद्गल, पुन्नाटा, भल्पे, बादामि, पट्टदकल्लु आदि।

ज्ञात होता है कि बाद में संस्कृत-प्राकृत भाषाओं की अपभ्रंश में कन्नड एवं अन्य आर्यतर भाषाओं से भी सहायता मिली है। उदाहरणार्थ विद्वानों के मत से हालराजविरचित 'गाथासप्तति' (लगभग ई० सन् २००) में उपलब्ध होने वाले पोट्ट, तुप्प, तोर (साध्य), पिट्टु (मार) आदि शब्द कन्नड से ही प्राकृत में लिए गये हैं। हेमचन्द्र की 'देशीनामावली' में अनेक कन्नड शब्द प्राकृत में हमें उपलब्ध होते हैं। इससे भी कन्नड भाषा की प्राचीनता सिद्ध होती है। ग्रांथिक रूप में म सही, व्यावहारिक रूप में ई० पूर्व के शतमानों में कन्नड भाषा अवश्य प्रचार में रही। हमें ग्रांथिक कन्नड ई० सन् ४५० से प्राप्त होती है। इसके पूर्व के पढ़े लिखे लोग अपनी मातृभाषा की ओर लक्ष्य न देकर प्रायः संस्कृत-प्राकृत भाषाओं में ही ग्रन्थ-रचना किया करते थे। इसलिए हमें कर्नाटक में संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थ चार सौ पचास के पूर्व के उपलब्ध होने पर भी कन्नड ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते। यह भी सम्भव है कि चार सौ पचास के पूर्व के कन्नड ग्रन्थ काल के गर्भ में समा गये हों।

कन्नड में उपलब्ध होने वाली सर्वप्रथम कृति ई० सन् लगभग ४५० में उत्कीर्ण पलूमिडि शासन है। अनन्तर कन्नड के एक-दो नहीं अनेक शिलालेख मिलते हैं। उक्त इस प्राचीन कन्नड शिलालेख में सुप्राचीन कन्नड भाषा एवं लिपि हमें देखने को मिलती है। हाँ, उसी समय से कन्नड में संस्कृत शब्द समा गये थे। शासन में प्रयुक्त भाषा-शैली को देखने से पता लगता है कि भाषा को उतनी शक्तियुक्त बनने में कई शतमान लगे होंगे। करीब आठवीं शताब्दी तक कन्नड के शासन प्रायः गद्य-रूप में ही रहे। क्रमशः गद्य के बाद पद्य शुरू हुए। आठवीं शताब्दी से पद्य-रूप में श्रेष्ठ काव्यगुणयुक्त अनेक कन्नड शासन रचे गये हैं। नौवीं शताब्दी से आगे कन्नड में ग्रन्थ रचने का कार्य प्रारंभ हुआ। तब से आज तक प्रवर्धमान कन्नड भाषा में कतिपय अवस्था भेद अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं। विद्वानों ने कन्नड भाषा की प्रोन्नति में चार अवस्थाएँ निर्धारित की हैं : १. सुप्राचीन काल ( ई० सन् ८वीं शताब्दी के अन्त तक ), २. प्राचीन काल ( ई० सन् ९वीं शताब्दी के लगभग से १२वीं शताब्दी तक ), ३. मध्य काल ( ई० सन् १२वीं शताब्दी के मध्यकाल से १६वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक ) और ४. नवीनकाल ( १६वीं शताब्दी के पूर्वार्ध से बाद की भाषा )।

अभी उपलब्ध कन्नड ग्रन्थों में कविराजमार्ग ही आदिम ग्रन्थ है। यह अलंकार ग्रन्थ है। फिर भी इसमें अनेक अन्यान्य विशिष्ट गुण मौजूद हैं।

इसके रचयिता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। इसमें अलंकारशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले विषयों के सिवा कन्नडदेश, कन्नड-भाषा, कन्नड-वासियों का परिचय, कन्नडभाषा का विस्तार, अपने से पूर्व के कन्नड कवियों के नाम तथा कतिपय पद्य, काव्यप्रयोजन आदि कई विषय प्रतिपादित हैं। इस कृति के रचयिता ने लक्षणशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली बातों को दण्डि, भामह आदि के संस्कृत ग्रन्थों से ही लिया है। इस रचना से यह भी सिद्ध होता है कि इस कृति के निर्माण के बहुत पूर्व से ही कन्नड में ग्रन्थनिर्माण का कार्य प्रारम्भ हो गया था। इसमें सन्देह नहीं है कि हिन्दी, बंगला, मराठी एवं गुजराती आदि भाषाओं के जन्म लेने के पूर्व ही कन्नडभाषा का ग्रन्थभाण्डार अनेक बहुमूल्य ग्रन्थरत्नों से भरा हुआ था।

प्राचीन कन्नड वाङ्मय को उन्नत तथा प्रौढ़ स्थिति में लाने का अमर श्रेय जैन आचार्य एवं कवियों को प्राप्त है। इस बात को सभी स्वीकार करते हैं कि कन्नडभाषा का जन्म और प्रसार जैनों से ही हुआ है। उन्होंने ही इस भाषा के वाङ्मय को एक उच्च श्रेणी को भाषा के योग्य बनाया है। अदम्य साहस के द्वारा कन्नड वाङ्मय को उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचाने वाले जैन लोगों ने इस वाङ्मय में अपना नाम अजरामर कर दिया है। इसीलिए आज सम्पूर्ण कर्नाटक बड़े गौरव से उनका यशोगान गा-गाकर अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता है। ई० सन् १३वीं शताब्दी तक के सभी उद्भट कन्नड-ग्रन्थकार जैन धर्मावलम्बी ही थे। 'कर्नाटक कवि-चरिते' के मान्य सम्पादक महामहोपाध्याय स्व० आर० नरसिहाचार्य जैन कवियों के सम्बन्ध में यों लिखते हैं—'जैन ही कन्नड भाषा के आदि कवि हैं। आजकल उपलब्ध सभी प्राचीन एवं श्रेष्ठ कृतियाँ जैनों की ही हैं। इस बात को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि ग्रन्थ-रचना में जैनों के प्राबल्य का काल ही कन्नड वाङ्मय की उच्च स्थिति का काल है। प्राचीन जैन कवि ही कन्नड भाषा के सौन्दर्य एवं कांति के मुख्य कारण हैं। जैन कवियों ने शुद्ध और गम्भीर शैली में ग्रन्थरचनाशैली को चरमसीमा पर पहुँचाया है। प्रारम्भिक कन्नड वाङ्मय उन्हीं की लेखनी द्वारा निर्मित हुआ है। कन्नड भाषा के अध्ययन के लिए सहायक छन्द, अलंकार, व्याकरण और कोश आदि ग्रन्थ विशेषतः जैनों के द्वारा ही रचे गये हैं।

बोलचाल की भाषा को ग्रन्थरूप देने का सम्पूर्ण श्रेय जैन कवियों को प्राप्त है। उपलब्ध कन्नड साहित्य में महाराजा नृपतुंगका कहाजानेवाला

पूर्वोक्त कविराजमार्ग ही आदिम कन्नडग्रन्थ एवं कवितागुणाण्व जैन महा-कवि पम्प ही आदिम कवि हैं। कलामर्मज्ञों का मत है कि महाकवि रत्न काव्य-निर्माणरूला में संस्कृत महाकवि भवभूति से कम नहीं था। जिनसमय-दीपक यह रत्न वस्तुतः कन्नड वाङ्मय का एक समुज्ज्वल रत्न था। कन्नड में कविचक्रवर्ती उपाधिप्राप्त पोन्न, जन्न और रन्न ये तीनों वास्तव में रत्नत्रय हैं। विलक्षण कवितासामर्थ्य की प्राप्त उपर्युक्त महाकवि पम्प अद्वितीय कीर्तिशाली कवि था। इसी प्रकार महाकवि नागचन्द्र या अभिनव पम्प के द्वारा प्रशंसित अभिनवाग्देवी उपाधि-प्राप्त कति हा आदिम जैन कवयित्री है।

कन्नड जैन पुराणों में पम्प (ई० सन् ९४१) का आदिपुराण, पोन्न (ई० सन् लगभग ९५०) का शांतिनाथपुराण, रत्न (ई० सन् ९९३) का अजितनाथपुराण, चाउण्डराय (ई० सन् ९९८) का चाउण्डरायपुराण, नागचन्द्र (ई० सन् लगभग ११००) का भल्लिनाथपुराण, कर्णपार्य (ई० सन् लगभग ११४०) का नेमिनाथपुराण, नेमिचन्द्र (ई० सन् लगभग ११७०) का अर्ध-नेमिपुराण, अगल (ई० सन् ११८९) का चन्द्रप्रभपुराण, आचण्ण (ई० सन् ११९५) का वर्धमानपुराण, बंधुवर्म (ई० सन् लगभग १२००) का हरिवंश-पुराण, पार्श्वपंडित (ई० सन् १२०५) का पार्श्वनाथपुराण, जन्न (ई० सन् १२०९) का अनन्तनाथपुराण, द्वितीय गुणवर्म (ई० सन् लगभग १२२५) का पुष्पदन्तपुराण, कमलधव (ई० सन् लगभग १२३५) का शांतीश्वरपुराण, मधुर (ई० सन् लगभग १३८५) का धर्मनाथपुराण, मंगरस (ई० सन् १५०८) का नेमिजिनेशसंगति, शोतिकीर्ति (ई० सन् १५१९) का शांतिनाथपुराण, दोड्डय्या (ई० सन् १५५०) का चन्द्रप्रभपुराण ये प्रख्यात हैं। इनमें पदलालित्य, प्रसाद एवं सौष्ठव आदि काव्योचित सभी प्रमुख गुण मौजूद हैं। उपर्युक्त दो-एक कृतियों को छोड़कर सभी चम्पू काव्य हैं। कई विद्वानों के मत से संस्कृत में चम्पू काव्यों का जन्म कन्नड भाषा से ही हुआ है। इसके लिए मरुधरकेसरी अभिनन्दनग्रंथ में मेरा 'चम्पूकाव्य' लेख दर्शनीय है। इसी प्रकार षट्पदि (एक छन्द) ग्रन्थों में उपर्युक्त मंगरस (ई० सन् १५०८) का सम्यक्त्वकौमुदि, कुमुदेन्दु (ई० सन् लगभग १२७५) का रामायण, भास्कर (ई० सन् १४२४) का जीवन्धरचरिते, कल्याणकीर्ति (ई० सन् १४३९) का ज्ञानचन्द्रभ्युदय, बोम्मरस (ई० सन् १४८५) का सनत्कुमारचरिते,

कोटेश्वर (ई० सन् १५००) का जीवन्धरषट्पदि, मंगरस (ई० सन् १५०८) का अयनूपकाव्य सुप्रसिद्ध है ।

इसी प्रकार सांगत्य (एक छन्द) ग्रन्थों में रत्नाकर वर्णी (ई० सन् १५५७) का भरतेशवैभव, चन्द्रम (ई० सन् १६०५) का गोम्मटेश्वरचरिते, पद्मनाथ (ई० सन् लगभग १६८०) का रामपुराण, शतकग्रन्थों में रत्नाकरवर्णी (ई० सन् १५५७) का शतकत्रयि, व्याकरणग्रन्थों में नागवर्म (ई० सन् लगभग ११४५) का भाषाभूषण तथा शब्दस्मृति, केशिराज (ई० सन् लगभग १२६०) का शब्दमणिदर्पण, भट्टाकलंठ (ई० सन् १६०४) का शब्दानुशासन, छन्दग्रन्थों में नागवर्म (ई० सन् लगभग ११४५) का छन्दोबुधि, अलंकारग्रन्थों में इसी नागवर्म का काव्यावलोकन, उदयादित्य (ई० सन् लगभग ११५५) का उदयादित्यालंकार, साल्व (ई० सन् १५५०) का रसरत्नाकर आदि कृतियाँ विख्यात हैं । आज भी कन्नड भाषा के लिए यही आधारग्रन्थ हैं ।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त मान्य जैन कन्नड कवियों ने वैद्य, ज्योतिष, गणित आदि लोकोपयोगी ग्रन्थों की रचना भी की है । वैद्यग्रन्थों में कीर्तिवर्म (ई० सन् लगभग ११२५) का गोवैद्य, सोमनाथ (ई० सन् ११५०) का कल्याणकारक, देवेन्द्रमुनि (ई० सन् लगभग १२००) का बालग्रहचिकित्सा, मंगराज (ई० सन् लगभग १३६०) का खगेन्द्रमणिदर्पण, श्रीधरदेव (ई० सन् लगभग १५००) का वैद्यामृत, साल्व (ई० सन् १५५०) का वैद्यसांगत्य, अभिनवचन्द्र (ई० सन् लगभग १४००) का अश्वशास्त्र, ज्योतिषग्रन्थों में श्रीधराचार्य (ई० सन् १०४६) का जातकतिलक, गणितग्रन्थों में राजादित्य (ई० सन् लगभग ११२०) के व्यवहारगणित, क्षेत्रगणित, व्यवहाररत्न, लीलावति, चित्रहसुगे, जैनगणितटीकोदाहरण और पाकशास्त्र में मंगरस (ई० सन् लगभग १२७५) का सूपशास्त्र आदि रचनाएँ विशेष उल्लेखार्ह हैं ।

उपर्युक्त कवियों में महाकवि नागचन्द्र उपासनप्रिय है, तो कवि नेमीचन्द्र श्रृंगारोपासक है । कविचक्रवर्ती जल्ल अहिंसा प्रेमी है, तो कवि बन्धुवर्म अध्यात्मप्रिय है । उक्त रचनाओं में खगेन्द्रमणिदर्पण, जातकतिलक आदि कई रचनाएँ अन्य कई भाषाओं में अनुवाद करने योग्य हैं । उपलब्ध पूर्वोक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त सातवीं शताब्दी के ग्रन्थ-रचयिता तुम्बलूराचार्य-रचित चूडामणि नामक तत्त्वार्थसूत्र पर की ६६००० पद्यपरिमित बृहद्टीका और

उन्हीं के समकालीन श्यामकुंदाचार्य का प्राभूत ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं हुए हैं। इसी प्रकार गुणनन्दि, गुणवर्म आदि मान्य कवियों की कृतियाँ भी उपलब्ध नहीं हुई हैं। इनके ग्रन्थों का उल्लेख एवं उनके कतिपय पद्य अन्यान्य कवियों की कृतियों में हमें मिलते हैं। आदिम कन्नड जैन ग्रन्थों में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य अवश्य है। हाँ, इसका कारण यह है कि जैन कवि केवल कन्नड भाषा के ही ज्ञाता नहीं थे। किन्तु संस्कृत, प्राकृत भाषाओं के भी पंडित थे। फिर भी आंड्य आदि कतिपय जैन कवि कन्नड के विशेष पक्षपाती रहे। कन्नड भाषा में जब शिथिलता आई तब उस शिथिलता को केसिराज जैसे जैन कवियों ने ही दूर किया। कहने का आशय यह है कि प्रत्येक दृष्टि से मान्य जैन कवियों ने कन्नड भाषा की असीम सेवा की है। इस अपार सेवा को कभी भी नहीं भुलाया जा सकता है।

जैन काव्यों में हमें केवल काव्यधर्म ही नहीं, आत्मवाद, साम्यवाद, अपेक्षावाद, अहिंसावाद और स्याद्वाद आदि सभी मिलते हैं। पुराणों में भी हमें महा-पुरुषों की जीवनी के साथ-साथ अनुकरणीय आदर्श चारित्र्य का संकेत भी मिलता है। जैन काव्य और पुराणों में पूर्वार्ध में जहाँ शृंगार रस की स्वरूप यमुना बहती है, वहीं उत्तरार्ध में नियम से शांतिरस की निर्मल गंगा बहती मिलती है। जैन पुराण एवं काव्यों का यह एक विशिष्ट गुण है। आंड्य और नेमीचन्द्र जैसे कवियों ने लौकिक कथा भी लिखी है। ये कथाएँ बीसवीं शताब्दी की कल्पित कथाओं से कम नहीं हैं। रसिक कवि रत्नाकर का भरतेशर्वभ्रम एक अद्भुत कृति है। इससे कवि के विशाल अध्ययन एवं व्यापक ज्ञान का यथेष्ट परिचय मिलता है। महाकवि पम्प और रन्न के महाभारत एवं नागचंद्र की रामायण से दुर्योधन और रावण जैसे लोकनिन्दित व्यक्तियों पर भी हमें आदर-बुद्धि उत्पन्न होती है। वस्तुतः जैन कवियों ने हमें काव्य, काव्यलक्षण, जीवनीपयुक्त ज्ञान आदि सभी दिया है।

हाँ, अभी तक तो जैन पद्यसाहित्य पर ही विचार हुआ। अब जैन गद्यसाहित्य पर भी दो शब्द कह देना अनिवार्य है। क्योंकि गद्य ही कन्नड का प्रारम्भिक साहित्य है। परन्तु गद्यग्रन्थ बहुत कम हैं। उपलब्ध कन्नड गद्यग्रन्थों में आचार्य शिवकोटि की वड्डाराधना ही आदिम ग्रंथ है। इसका समय लगभग ई० सन् १२० है। यह ग्रन्थ महाकवि पम्प से पूर्व का है। इसमें कन्नड भाषा के मुक्ताफलसदृश, बहुत ही सुन्दर, सुप्राचीन मनोहर एवं

सहज शब्द हमें उपलब्ध होते हैं। इस घड्डाराधना में परीषहजय की आवश्यकता को प्रतिपादित करने वाली उन्नीस कथाएँ कही गयी हैं। हरिषेण का कथाकोश ही इसका आकर है। इसकी सभी कथाएँ नीतिपरक और वैराग्यबोधक हैं। इसके सन्निवेश एवं पात्रसंवाद में सजीवत्व तथा मानवा-यत्न भरा मिलता है।

दूसरा ग्रन्थ चाउंडरायपुराण है। चाउंडराय ब्रह्मक्षत्रिय था। आचार्य अजितसेन इसके गुरु थे। चाउंडराय गंगकुल-चूड़ामणि राचमल्ल (ई० सन् ६७४-६८४) का मंत्री एवं सेनापति था। इस पुराण में त्रिषष्टिशलाकामहा-पुरुषों का पुण्यचरित्र वर्णित है। इसका आधार आचार्य गुणभद्र का उत्तरपुराण है। भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। चाउण्डराय वही व्यक्ति है जिसने श्रवणबेलगोल में लोकविख्यात बाहुबलि-मूर्ति की स्थापना की थी। गंग, राष्ट्रकूट, चालुक्य, होय्सल, विजयनगर और मँसूर के शासक उपर्युक्त जैन कवियों में से अनेक कवियों के पोषक एवं प्रोत्साहक रहे। राजा-महाराजाओं का आश्रय पाकर ही पम्प, रत्न, पोन्न और जन्न इन महा-कवियों ने अपनी अमर कृतियों के द्वारा कन्नड वाग्देवी का मुख उज्ज्वल किया है। कर्नाटक के उदार शासक चाहे वह किसी धर्म का अनुयायी हो सुयोग्य कवि को अपने आस्थानों में सहर्ष उन्नत स्थान प्रदान करते थे। इसी से पम्प, पोन्न आदि जैनधर्मावलम्बी होते हुए भी अपने प्रतिभावल से राष्ट्र-कवियों के उन्नतासन पर आरूढ़ हुए थे। पम्प आदि कन्नड जैन कवियों के श्रद्धेय गुरु संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं के उद्दाम पंडित, निर्मल चारित्रधारक, संयम-पारंगत, तपस्वी होने के कारण उनके सभी असाधारण गुण शिष्यों में उतर आना सर्वथा स्वाभाविक है।



# भक्तामर की एक और सचित्र प्रति

श्री अजरचन्द्र नाहटा

साहित्य की भाँति कला के क्षेत्र में भी जैन समाज का महत्त्वपूर्ण योगदान है। जैन मन्दिरों में स्थापत्यकला और मूर्तिकला के जो उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं उनसे तो प्रायः सभी परिचित हैं पर चित्रकला के सम्बन्ध में भी जैनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसका उचित मूल्यांकन अभी नहीं हो पाया है। काफी वर्षों पहले साराभाई नवाब, अहमदाबाद वालों ने जैन चित्रकल्पद्रुम आदि गुजराती सचित्र ग्रन्थ प्रकाशित किये थे। डा० मोतीचन्द्रजी का एक अंग्रेजी ग्रन्थ भी साराभाई ने प्रकाशित किया था। पर उसके बाद तो जैन चित्रकला की बहुत बड़ी सामग्री प्राप्त हुई जिसका कुछ विवरण महावीर जैन विद्यालय बम्बई के स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ है। मेरठ की कुमारी कमला जैन जैन चित्रकला के किसी एक विषय को लेकर शोधकार्य कर रही हैं। बम्बई की डा० सरयू दोसी का इस विषय का काफी अच्छा अध्ययन है। दिगम्बर जैन सचित्र प्रतियों पर उन्होंने अच्छा कार्य किया है पर अभी जैन ज्ञान भण्डारों में सैकड़ों ऐसी सचित्र हस्तलिखित प्रतियाँ पड़ी हैं जिनकी जानकारी बड़े-बड़े विद्वानों को भी नहीं है। १८वीं-१९वीं शताब्दी में मथेरण—महात्मा जाति, जो हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रतिलिपि करने के साथ-साथ सचित्र ग्रन्थ तैयार करने में बहुत उल्लेखनीय रही है, उनकी चित्रकला पर तो अभी किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। बहुत वर्ष पहले मैंने एक सचित्र लेख बनारस के भारत कला-भवन की मुख पत्रिका “कलानिधि” में छपने के लिए भेजा था पर न तो वह प्रकाशित हुआ और न ही अनेकों बार लिखने पर भी वापिस हुआ। दिगम्बर समाज की सचित्र प्रतियों के सम्बन्ध में भी इधर कुछ विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ है। डा० मोतीचन्द्रजी जैसे कला-मर्मज्ञ ने जनवरी ७२ में जो लखनऊ में ‘जैनकला संगोष्ठी’ हुई थी उसके समापन-भाषण में चित्रकला के क्षेत्र में जैनों का जो विशिष्ट योगदान है इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला। उन्होंने कहा है :

“मैं यह चाहता था कि इस संगोष्ठी में कोई विद्वान् जैन चित्रकला पर प्रकाश डालता । आइकोनोग्राफी अपने सर्वोत्तम रूप में भी एक अति नीरस विषय है, किन्तु जब आपका सामना रंगों, रेखाओं, प्राकृतिक दृश्यों इत्यादि चित्रकला के उपादानों से होता है तो आपका सौन्दर्यबोध कहीं अधिक सन्तुष्टि प्राप्त करता है । यदि आनन्द कृष्ण, जो इस संगोष्ठी में भाग लेने वाले थे, आ जाते तो वह स्लाइड भी साथ लाते तो उनकी सहायता से यह जाना जा सकता कि १५वीं-१६वीं शताब्दी में किस तरह जैन कला ने इस कला की परम्परा को जीवित रखा जो कि अब प्रायः सर्वत्र—विशेषकर उत्तरी एवं पश्चिमी भारत में मृत-प्राय हो चुकी थी । इसमें कोई सन्देह नहीं है कि चित्रकला की परम्परा ८-९वीं शताब्दी में समाप्त हो चुकी थी, वह जैनकला के माध्यम से ही जीवित रही । १३वीं से लेकर १६वीं सदी पर्यन्त की भारतीय चित्रकला का अध्ययन बिना जैन चित्रों के किया ही नहीं जा सकता । अब तक जो सचित्र प्रतियाँ प्रकाश में आई हैं उनमें से अधिकतर श्वेताम्बर भंडारों से ही प्राप्त हुई हैं । इस विषय में दिगम्बरों की अपेक्षा श्वेताम्बर अधिक उदार रहे हैं । जौनपुर से प्राप्त १४६५ ईसवी का सचित्र कल्पसूत्र भारतीय कला की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है । वह न केवल १५वीं शताब्दी का एक मात्र उदाहरण है बल्कि यह भी प्रमाणित करता है कि उत्तरप्रदेश में भी उस युग में जैन चित्रकला प्रगतिशील थी ।

मेरी एक छात्रा सुश्री सरयू दोसी जो स्वयं दिगम्बर जैन हैं, मेरे निर्देशन में दिगम्बर जैन सचित्र प्रतियों पर पी-एच०डी० के लिए शोध कर रही हैं । इसके पूर्व मुझे महापुराण की १५३० ईसवी की एक प्रति का तथा दिल्ली से प्राप्त एक अन्य प्रति का ही ज्ञान था किन्तु श्रीमती दोसी ने इतनी सारी दिगम्बर प्रतियाँ खोज निकाली हैं कि मैं आश्चर्य में रह गया । कला की दृष्टि से भी उनके चित्र उच्चकोटि के हैं । श्रीमती दोसी ने जो सामग्री संग्रह की है उसके आधार से निश्चय ही चित्रकला के अध्ययन में एक नवीन अध्याय जुड़ जायेगा और इस कला के क्षेत्र में दिगम्बर जैनों का प्रभत योगदान रहा है, यह भी प्रकट हो जायेगा ।

मुस्लिम सुल्तानों के शासन काल में जब प्रायः समस्त भारतीय कला मृत-प्राय हो रही थी, संभवतया जैन लोग ही ऐसे सौभाग्यशाली थे कि वे कला को जीवित रखने में समर्थ रहे ।

इधर 'सन्मति सन्देश' और 'वीर-वाणी' में दिगम्बर जैन भंडारों में प्राप्त सचित्र प्रतियों की सूची प्रकाशित हुई है। पर उनके अतिरिक्त अन्य दिगम्बर भंडारों में भी कई सचित्र प्रतियाँ हैं जिनमें से 'सुगन्धदशमीकथा' की एक सचित्र प्रति के चित्र तो डॉ० हीरालाल जैन द्वारा संपादित और भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित 'सुगन्धदशमीकथा' ग्रंथ में छप भी चुके हैं। इस प्रति में ६७ चित्र हैं। चित्रों की शैली १८वीं शताब्दी की है। ये दक्षिण भारतीय मराठी शैली के हैं। इसी तरह आदित्यवारकथा की सचित्र प्रति डूंगरपुर के दि० शास्त्र भंडार में है, इसमें भी काफी चित्र हैं।

जैन समाज में भक्तामरस्तोत्र का बहुत प्रचार है। उसकी कई सचित्र प्रतियाँ प्राप्त होती हैं। जिनकी खोज करके मैंने एक लेख 'श्रमण' के फरवरी ७१ अंक में प्रकाशित करवाया था। इनमें से एक प्रति श्वेताम्बर यति की लिखी हुई थी, बाकी सभी दिगम्बर समाज की लिखवाई हुई हैं। उनमें से सबसे प्राचीन संवत् १६९५ की प्रति स्व० मुनि कांतिसागरजी की उल्लिखित है पर वह अभी तक मेरे देखने में नहीं आई और न उसके चित्रादि का विवरण ही प्राप्त कर सका। पर अभी-अभी बीकानेर के स्वर्गीय भंवरलाल जी रामपुरिया के यहाँ की भक्तामर की विशिष्ट सचित्र प्रति उनके सुपुत्र कमलचन्दजी रामपुरिया से देखने को मिली है। उसका संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है।

पुस्तकाकार ९६ पत्रों की इस प्रति में ५६ चित्र हैं जिनमें से आठ तो प्रासंगिक रूप में पहले चित्रित किए हुए हैं। फिर भक्तामर के एक-एक काव्य के भावों वाला एक-एक चित्र है। दिगम्बर समाज में भक्तामर के ४८ श्लोक प्रसिद्ध हैं। इस प्रति में मूल ४८ श्लोकों के साथ-साथ धनुदास या धनराज कवि के रचित भाषा कवित्त, हेमराजकृत पद्यानुवाद तथा टीका और मंत्रादि लिखे हुए हैं। इसकी लेखन प्रशस्ति से यह मालूम होता है कि मरुसूदाबाद में इससे पहले की लिखी हुई और चित्रित की हुई भक्तामर की प्रति थी। उसी के अनुसार मूरत में यह प्रति तैयार की गई है। ब्रह्म रूपसागर के पठनार्थ यह प्रति लिखी गई है और उन्हीं को अर्पित की गई है। मूल मरुसूदाबाद वाली प्रति का पता लगाना आवश्यक है। इस प्रति के चित्र अच्छी शैली के और सुरक्षित हैं। इसमें जो भक्तामर के कवित्त धनुदास या धनराज के दिये गये हैं वे भी अभी तक कहीं नहीं मिले हैं। भक्तामर का सचित्र संस्करण प्रकाशित किया

जाना आवश्यक है। इस प्रति में दिगम्बर मुनियों के चित्र हैं पर उनका दिगम्बरत्व—नग्नत्व चित्रित नहीं किया गया है जिससे किसी भी स्त्री या बालक के देखने में बाधा नहीं आती। प्रति की लेखन प्रशस्ति इस प्रकार है :

संवत् १७८२ वर्षे फाल्गुन मासे शुक्लपक्ष तिथी ७ रविवासरे पुस्तिका पूर्णा । श्री मूलसंध, सरस्वतीगच्छे, बलात्कारगणे, कुन्दकुन्दाचार्यान्वये । श्रीवासु-पूज्य चैत्यालये, भट्टारक श्री १०८ अभयचन्द्र तत् पट्टे भट्टारक श्री शुभचन्द्र तत् पट्टोद्धरण भट्टारक श्री रत्नचन्द्रसूरि तत्शिष्य रूपसागर पठनार्थं । लिप्य कृतं चित्रसंयुक्तं लालजी बांच भंगे जोवे तत् शुभं भवतु श्रीरस्तु । श्लोक :

यादृशं पुस्तकं दृष्ट्वा तादृशं लिखितं मया ।  
जदि सुद्धमसुद्धं वा, मम दोषो न दीयते ॥

ब्रह्म सागर पुस्तक अनुसार लिख्यो मसुदा बादशी आयोहता जात्रा । प्रतु लिखापितं घर्मधुरंधर सा० नेमचंद सूरजी, पुण्यनिमत्तां शास्त्रदानं ब्रह्म रूपसागर ने आपितं । श्री सूरत मंदिर लिखतं । श्री शुभं भवतु । कल्याणमस्तु । श्री-रस्तु । श्री । श्री । श्री । श्री । श्री ।

इसी तरह 'भूयालचतुर्विंशति' की सचित्र प्रति जगतसेठ के वंशजों की लिखाई हुई कलकत्ते में नाहरजी के संग्रह में है। इसके सम्बन्ध में 'सन्मति-सन्देश' में मेरा लेख प्रकाशित हो चुका है। जैन चित्रकला सम्बन्धी प्राप्त समस्त सामग्री की खोज, अध्ययन और प्रकाशन किया जाना अत्यावश्यक है। इससे भारतीय चित्रकला का अध्ययन भी प्रशस्त हो सकेगा ।



# विश्वेश्वरकृत शृंगारमंजरी-सट्टक का अनुवाद

डा० के० आर० चन्द्र

( गतांक से आगे )

- राजा— सूरजरूपी अग्नि ने दिन भर जो काष्ठ-समूह जलाया है उसी के कोयलों का (अंगारों का) ढेर अन्धकार के बहाने संसार को भर रहा है ॥३१॥
- विदूषक— ओह ! प्रेम का खेल कितना आश्चर्यमय है ?  
तभी तो —  
अनेक राजाओं के द्वारा चरण वन्दन किये जाने वाले आप अकेले ही दीपकों के प्रकाश से रहित और गाढ़ अन्धकार से निबिड़ बने इस मार्ग पर घूम रहे हो ॥३२॥
- राजा— मित्र, यह ऐसा ही है ।  
प्रियजन के मिलने पर या उससे मिलने की सम्भावना होने पर (परिवार के अन्य लोगों को भी अथवा) कुछ भी भेंट अथवा धन प्राप्त न होने पर भी संतोष होता है लेकिन यदि उन दोनों में से एक भी न हो तो इन्द्र (बल नामक असुर को मारने वाले) के राज्य में रहने वालों ( देवताओं के ) लिए भी कुछ नहीं ॥३३॥  
( नेपथ्य में पैरों की आवाज )
- विदूषक— पास की भूमि (स्थान) पैरों से आहत होने के कारण कुछ आवाज कर रही है । ऐसा मालूम होता है -कि वह तुम्हारे लिए संकेत-गृह को आ रही है ॥३४॥
- राजा— प्रकाश-रहित और शून्य (सुनसान) बने स्थान पर ऐसे विषम समय में किसी अन्य का आगमन ही ही नहीं सकता ॥३५॥  
तो यहाँ पर ही ठहरा जाए । (ऐसा करते हैं । तत्पश्चात्

नीलवस्त्र से अपने शरीर को ढके हुए शृंगारमंजरी और वसन्ततिलका प्रवेश करती हैं ।)

शृंगारमंजरी—मुग्धता (लज्जा), वियोग से उत्पन्न दुःख, पहला-पहला साहस का कार्य, परतन्त्रता, रात्रि, बहुत घना वन और निबिड़ अन्धकार (ऐसी दशा में) हे सखि, जमीन पर पैर कैसे रखे जाएं ? ॥३६॥

वसन्ततिलका—हे सुन्दरि, स्त्रियों की यह अभिवार विधि विलक्षण ही है, जिसमें (मार्ग में) दृष्टिपथ में आने वाली सभी प्रतिकूल बातें (वस्तुएँ) अनुकूल बन जाती हैं ॥३७॥

और भी—

तुम्हारे मुख की चाँदनी की धारा मुख को ढकने वाले वस्त्र के मध्य मार्ग से नाले के रूप में आगे-आगे दौड़ रही है ॥३८॥

शृंगारमंजरी—(अन्धकार को देखकर)

दिनभर सूर्य ने अपने आतप (प्रकाश) से (सारे) लोक को भर दिया था परन्तु अब यमुना नदी, शनि और यम ने अपनी कालिमा से उसे भर दिया है ॥३९॥

राजा—

(सुनकर अपने आप)

वक्रार्थ गंभित ये वर्ण (शब्द) सुन्दर विषयों (वस्तुओं) के समान हैं जो कानों के लिए अमृत का पान (अमृत समान भोजन उत्पन्न) कराने वाले हैं और देह के ताप को शान्त करने वाले हैं ॥४०॥

वसन्ततिलका—हे सखि, निर्दिष्ट माधवी-मंडप तो पास में ही है ।

शृंगारमंजरी—यह कैसे जान लिया ?

वसन्ततिलका—हे चन्द्रमुखि, मदनदेवता की पूजा के समय तुम दोनों को जहाँ पर पहले ही पहल एक-दूसरे को देखने का सुख मिला था, उसी अशोक वृक्ष के मूल प्रदेश में हम अब आ पहुँचे हैं ॥ ४१ ॥

यहाँ से दाहिनी तरफ और फिर बायीं ओर चलकर सिद्धुवार का वन छोड़कर थोड़े से कदम चलने पर तू शीघ्र ही उस कुंज में पहुँच जाएगी ॥ ४२ ॥

शृंगारमंजरी—हे सखि, जैसे-जैसे मैं प्रणय और भय से काँपते हुए कदम मार्ग पर रखती हूँ वैसे-वैसे वियोग की सम्भावना से मेरे हृदय में विकलता उत्पन्न होती है ॥ ४३ ॥

और भी

अब वाम भुजलता और वाम नेत्र भी फड़कने लगे हैं, फिर भी मात्र उसके (प्रिय के) द्वारा रक्षित होने के कारण ही मेरे में जीवन की आशा का संचार हो रहा है ॥ ४४ ॥

वसन्ततिलका—ऐसा सन्देह नहीं करना चाहिए ।

हे सखि, अनेक गुणों को धारण करने वाली तू राजा को देख-कर जिस कारण से यहाँ पर आकृष्ट हुई थी, वहीं पर राग, वसन्त ऋतु, मन्मथ अथवा वह (स्वयं) उस प्रभाव से कैसे बच सकता है ? ॥ ४५ ॥

राजा—

(अकेले विदूषक के प्रति)

प्रियतमा से भेंट करने का यही अनुकूल मुहूर्त है । मेरे लिए ही इसने सतत दुःख सहन किया है और अब स्वाधीन होने के कारण मैं उसे क्षण भर भी दुःखी कैसे कर सकता हूँ ॥४६॥

और भी

मनोरथरूपी अमृत से जिसके अंग शान्त (सुखी) हुए हैं उसके लिए प्रथम विरह दुःखदायी नहीं होता परन्तु निर्दिष्ट समय पर उसके (प्रिय के) न मिलने से लम्बे समय तक दुःख होता है ॥४७॥

विदूषक—

आप नजदीक जाइए । मैं पुनः अन्धकार के जाल से नियन्त्रित होकर यहाँ पर ही रहता हूँ और मेरी फिर से खोज मत करना ।

राजा—

ऐसा ही हो । (नजदीक जाकर) हे सुन्दरि, इस मार्ग से माघवी-मण्डप में प्रवेश करो ।

हे वरोरु, पहले से ही तेरे गुणों से बँधा हुआ था, परन्तु प्रति-बन्धन के कारण थोड़ा-सा रुक गया था और अब मदन के तीव्र पवन से प्रेरित होकर तेरा ही अपना जन (प्रिय व्यक्ति) तेरे पास आया है ॥४८॥

शृंगारमंजरी—(अपने आप) क्या महाराज पहले ही संकेतमण्डप में आ गए हैं ? तो अब मैं क्या करूँ ?

वसन्ततिलका—महाराज की जय हो । इतना मात्र ही मेरा कार्य था । इसके बाद महाराज की जैसी आज्ञा ।

राजा— ( नायिका के प्रति ) हे चद्रमुखि, इस सतामण्डप को सुशोभित करो ।

शृंगारमंजरी—(कांपती हुई लज्जा के साथ नीचे मुख करके खड़ी रहती है । )

राजा— हे सुन्दरि, तेरा झुका हुआ मुख देखकर ऐसा मालूम होता है कि अन्धकार बढ़ गया है और कमल बन्द हो गये हैं ॥४६॥

वसन्ततिलका—महाराज को मालूम हो गया है ।

अति इच्छित वस्तु के लिए प्रतिकूलता बतलाना यह तो स्त्री का स्वभाव है और लज्जा तथा भय से मन्द बनी युवा स्त्रियों में यह और भी अधिक मात्रा में पाया जाता है ॥५०॥

राजा— यह ऐसा ही है । ( नायिका को उद्देशित करके ) हे सुन्दरि, मलयानिल से स्पृष्ट होने पर माधवीलता के समान कांपती हुई देहलता वाली तू हाथी की सूँड के समान अपने हाथ से मेरा हाथ पकड़कर प्रवेश कर ॥५१॥

( वैसा करके अपने आप )

हालाँकि यह मुग्धा मेरे हाथ को पकड़ने का प्रयत्न नहीं करती फिर भी मेरे हाथ से पकड़े हुए अपने हाथ को छुड़ाती भी नहीं है ॥५२॥

( इस प्रकार प्रवेश करती है । )

वसन्ततिलका—मैं फिर अन्य लोगों के आने-जाने का ध्यान रखता हुई बाहर हो खड़ी रहूँगी ।

( उसी प्रकार करती है । )

शृंगारमंजरी—(अपने आप) क्या मैं अकेली ही रह गयी ?

राजा— (अपने आप) चतुर व्यक्तियों को कहने की कोई आवश्यकता नहीं । (प्रकट में) इतनी दूर क्यों खड़ी हो ?

उस शीघ्रगामी पवन को जो शेफालिका के पुष्पों के संयोग से सुगन्धयुक्त बना है, अत्यन्त दूर से आने के कारण थक गया है और किसी-न-किसी प्रकार घने कुंज में प्रविष्ट हुआ है, तुम्हारे पसीने की बूँदों का आस्वाद लेने दो ॥५३॥

(मुख के घूँघट को दूर करता है ।)

शृंगारमंजरी—( मुख नीचा करके रोती है । )

राजा— पहले तो मेरे न आने की शंका से ऐसा कहती थी (जैसे-जैसे मैं अपने कदम आगे रखती हूँ, इत्यादि को दुहराना, गाथा नं० ४३ )।

और अब फिर—

शीघ्र ही ऐसा ही रहा है कि उसका झुका हुआ मुख-चन्द्र पक्ष्म चलाने से अश्रुधारा के बिन्दुओं के गिरने से किञ्चित् गीले कपोल वाला हो गया है और यह स्तनकली अति दीर्घ श्वास के आघात के वेग से कंपित हो रही है ॥५४॥

और भी

हे सुतनु, अश्रुधारा से मलीन बने तुम्हारे मुख को मैं अपने सुन्दर हाथ से धीरे-धीरे पोंछ लेता हूँ और विश्वास के वेग से पीड़ित हुए तुम्हारे हृदय पर भी थोड़ा-सा हल्का-हल्का हाथ फिरा देता हूँ ॥५५॥

(उसी प्रकार करता है ।)

शृंगारमंजरी—आजन्म परतन्त्रता है, और सुलभ नहीं होने वाले पुरुष के साथ स्नेहबन्धन हुआ है । प्राण पत्थर के समान कठोर है, मरने का उपाय भी नहीं मिलता । वह व्यक्ति इष्ट है और (मेरे प्रति) अनुराग से परिपूर्ण है परन्तु वह भी बाधा-युक्त हो गया है । इस प्रकार की दुःखी अवस्था में न तो मर सकते हैं और न जी सकते हैं ॥५६॥

राजा— (सुनकर स्वगत)

देवी के अधीन होने के कारण उसका और मेरा मिलन बाधा-युक्त है और प्रेम करने का निषेध है यही श्लोक का अर्थ है । (प्रकट में)

महारानी के कारण (कहने से) यदि मेरे प्रेम के विषय में शंका की जाती है तो हे सुन्दरि, ऐसा नहीं है, तू ही मेरा (सर्वस्व) है। जानते हुए भी वध करने वालों का क्या कहना ॥५७॥

शृंगारमंजरी—महाराज, (देवी को) उदार भावना पर यह नियन्त्रण पर्याप्त हो गया।

राजा— हे नील कमलाक्षि, तुम्हें छोड़कर अच्छे से अच्छे विषय में भी मेरे मन को आनन्द नहीं मिलता है। इसे भी यदि तुम कपट युक्त वचन समझती हो तो मैं तुम्हारे हृदय पर अपना हाथ रखकर सौगन्ध खाता हूँ। (मैं अपने हाथ से तेरे हृदय का स्पर्श करता हूँ) ॥५८॥

शृंगारमंजरी—महाराज सुनिए।

अनुकूल आचरण ही सच्चा प्रेम प्रकाशित करता है। यह जो दिखावा है वह तो आभास प्रकट करता है ॥५९॥

राजा— यदि ऐसी आशंका करती हो तो—

हे प्रिये, हमारे मुकुट के स्वच्छ पद्मरागरत्न के किरणों से आच्छादित होकर तुम्हारे चरणों के नख अपने गर्भ में निहित श्वेत (उज्ज्वल) किरणसमूह वाले सूर्य के समान शोभित हो। हे चण्डि, मान का त्याग करो ॥६०॥

(नमन करता है।)

शृंगारमंजरी—महाराज, इतना पर्याप्त हो गया।

(अपने पैरों को संकोचती है।)

वसन्ततिलका—(प्रवेश करके) हे सखि, माधविका को तुम्हारे स्थान पर बिठाकर हम आए हैं तो जब तक यह बात मालूम न हो जाए तब तक शीघ्र ही हम वहाँ पहुँच जाएँ।

शृंगारमंजरी—ऐसा ही किया जाए। (उठ जाती है।)

राजा— परवशता की कैंप्री गति (उठ करके)।

हे सुन्दरि, तुमने स्वयं ही जो विशेष प्रेम किया है उसका पुनः विच्छेद न हो, आज हमारी यही प्रार्थना है ॥६१॥

वसन्ततिलका—महाराज का यह महाप्रसाद (मेहरबानी) शिरोधार्य है। मात्र एक ही विनीत है। अन्य व्यापार (कार्य) करने की शक्ति, प्रभुता और अन्य युवतियों के प्रति सद्भावना ये गुण जिसमें विद्यमान होते हैं उसके प्रति प्रेम-विच्छेद की शंका होती है ॥ ६० ॥

राजा— इस प्रकार की चिन्ता क्यों की जाती है ?  
 भ्रमर केतकी, मालती और मल्लिका की लताओं पर (भले ही) फिरे परन्तु पद्मिनी पर उसका जो प्रेम है वह अति विशिष्ट है ॥ ६३ ॥

(सभी चले जाते हैं)

॥ तृतीय यवनिका समाप्त ॥

( क्रमशः )

## स्वयंभू की गणधर-परम्परा

डा० देवेन्द्रकुमार जैन

‘श्रमण’ के मार्च ७३ के अंक में श्री रमेश जैन ने जो (पद्मचरित और पउमचरित, पृ० ३) गणधरों का रूप दिया है वह ठीक नहीं है। कवि स्वयंभू ने क्रमशः आचार्य इन्द्रभूति (गौतम), गुणों से अलंकृत सुधर्मा, संसार से विरक्त प्रभव, कीर्तिधर और उत्तरवाग्मी के नाम दिये हैं। उत्तरवाग्मी से रविषेण और उनके बाद कविराज स्वयंभू को रामकथा रूपी नदी के अवगाहन का अवसर मिला। श्री रमेशजी ने सुधर्मा को धर्माचार्य लिखा है जो आचार्य सुधर्मा हैं, संक्षेप में सुधर्मा को धर्मा लिखा गया है। गणधर प्रभव और उत्तरवाग्मी को, कीर्तिधर का विशेषण बनाकर श्री रमेशजी ने उनका लोप ही कर दिया है, जबकि प्रभव कीर्तिधर के पहले हैं और उत्तरवाग्मी उनके बाद। रविषेण को उत्तरवाग्मी से रामकथा प्राप्त हुई थी, न कि कीर्तिधर से।

# Jain Mysticism

Prof. U. A. Asrani

( Continued from the last issue )

Jain literature is characteristically analytic—to an extremely penetrating degree. The author of the Adipurana prescribes for the students of Prathama Anuyoga, eight qualities, and puts ‘an open mind’ as the very first—prepared to seek confirmation even from observed facts. What could be more scientific ? But scientists may differ from that author, when he claims that the verdict of enlightened sages, got by intuition, will always be identical to that which is confirmed by facts.

Since Right Outlook on life and Right Knowledge occupy a pivotal position in Jainism; the Jain thinkers have devoted a deep interest in the procedure of correctly arriving at them. They discovered that analysis which they pursued was not all. Analytical knowledge revealed only various separate aspects or facets of things (‘Naya’ or ways of approach, as they call them). They claim that, besides the analysis, they try to arrive at a full or synthetic view of things as well. They have no patience with partial views, or with prejudicial or pre-possessed views. They try to discover the Complete and Impartial Truth. This philosophical attitude is called by them ‘Syadvada’ or ‘Anekanta-Vada’ ( non-absolutism )<sup>1</sup>. It is very remarkable that the Jain realised the importance of this doctrine many centuries back, while the west is only just now catching up, with its conception of Holism (Field Marshall Smuts), and its Gestalt Psychology—highly appreciated by many astute thinkers of today. People are easily satisfied with the aspect of Truth, which they observe from their individual or group stand-point; the Jains are not; they want Absolute Truth. For instance the Vedanta, laying

---

1. Indra chandra Shastri, *Jainism in Nutshell*, p. 24,

emphasis on common factors and generalisations, propounded the conception of One Fundamental Permanent Substratum—the Brahman; while Buddhism emphasised changes and differences as ultimate truth. Jainism says that each view is correct in its place. Everything is permanent, when you look at the aspect of its substance, but it is also changing and momentary, with relation to its varying states; hence according to Jainism, Change, along with Continuity of Substance is the Essence of Reality<sup>1</sup>.

In conformity with their doctrine of Syadvada, the Jains believe in the essential unity of all religions. Truth is one; different religions only view it from different angles. The Jain sovereign Kharavela was the first to organise an All Religions Conference long back in historic times. Other Indian kings and emperors like Ashoka, Chandra Gupta, Harsha and Akbar made similar attempts much later. Jain leaders have been sponsoring World Religions Conferences to this day. Proselytising is not their craze<sup>2</sup>.

(f) **Links with Patanjala Yoga:** An Ashtanga Yoga, similar to the Ashtanga Yoga of Patanjala, is mentioned in the Jain Texts. The eight 'limbs' of Yoga are called 8 'drishtis' or outlooks by the Jains. The deep influence of Patanjala Yoga on Jain Sadhana is evident from the earlier works of Subhachandra, and the later ones of Hemachandra Suri, Yashovijaya and Anandaghana. It appears that the glamour of the physio-psychological methods of Patanjala influenced both Buddhism and Jainism at some early date. While admitting Patanjala Yoga practices, without any expression of obligation on that score, there is some difference of opinion among Jain scholars, as regards the utility of Pranayama (the breathing exercises). Yashovijaya

1. Ibid. pp. 24-26.

2. Souvenir—Third World Religions Conference, Delhi, 1965, pp. 9-10 and Hindi section, pp. 6-15.

regards Pranayama as not obligatory for all; while Hemachandra Suri and Haribhadra have written positively against the inclusion of it in Jain Sadhana.<sup>1</sup> Compare also on this point 'Ashtanga Yoga' by Acharya Atma Ram (Publ. Gandamal Hemraj, Connaught Place, Delhi).

(g) **Jain Philosophy and Social Ethics** : The Jains have rejected the idea of a personal God as to anthropomorphic. They have postulated no creator, or preserver or destroyer. Patanjali permitted the conception of Ishwara (Personal God), merely for the purposes of 'Devotion' (Sutra I. 23), as a Sadhana; Jainism does not tolerate that either. No prayers are made to a Personal God. But the Jains believe every soul to be eternal and Infinite, like the Brahman of Vedanta; everyone is potentially a God; he has only to work his way to Perfection. A mystic who perfects himself in life is called an 'Arahant', i. e. the Worthy One; he becomes a 'Siddha' after death, and is also called a 'Param-Atman' (Hindu word for God), i. e. a Perfect Soul. The Jains believe in Transmigration and the Theory of Karma, like the Hindus and the Buddhists; everyone is a maker of his Destiny; he can become a Param-Atman, if he chooses. According to the Jains, there is no single, ultimate, material or efficient Cause of the Universe; there is only a plurality of modifying elements and self-conscious self-modifying souls, working their way towards omniscience and infinite bliss which is their essential nature.<sup>2</sup> Jainism does not believe in castes; it regards man and woman as equal.

(h) **The Craze for Miraculous Power** : This craze has been present among the Jains also, as in all other schools, Hindu, Buddhist etc., during the period of their development. The learned Jain commentator, Samantabhadra is reported to have exhibited a miraculous power to the king of Kashi,

2- Report of the Seminar on Yoga and Parapsychology, Lucknow, 1962, p. 74.

1. Sadhu Santi Nath, Experiments of a Truth Seeker, p. 476.

who wanted him to pay homage to Hindu idols.<sup>1</sup> Just as Patanjali gives a list of Siddhies (miraculous powers), the Jains also give a list of Riddhies. A Patanjala Yogi claims to have the power of creating new bodies (Nirmanā Kaya); the claims of Jains go a step further still—not only Nirmanā Chitta (creation of objects), but even the creation of an Acharya Deha, i. e. the body of a Teacher, out of the Siddhas or Perfected Ones, existing beyond death. If all the living Teachers could not clear the doubts of a Jain Sadhaka, he could resort to this miracle, and thus secure help from the Unseen Siddhas.<sup>2</sup>

But the Jain mystics, like the highest Hindu or Buddhist mystics, do not highly value these powers.<sup>3</sup> They are a by-product, not the End. Modern science and technology have already stolen a sizeable march over the mystics of the past ages, as regards miraculous feats. Some Jain Munis, to this day, exhibit, for instance, some very remarkable feats of memory and concentration (the recent mystic of Gujarat—Srimad Raja Chandra appears to have been a born genius, possessing these powers). But all such powers lose their significance in these days of Tape Recorders and Computers.

**(i) Critical Notes on Jain Practices of Ahimsa and Austerity; Escapism, among the Jains:** It appears that sometime about the beginning of the Christian era, there was a general wave towards non-violence and austerities in India. A Chinese Buddhistic Text—Surangama Sutra, written in Sanskrit, in India, about the 1st cent. A. D.—advocates strict vegetarianism; it prohibits even walking on grass, or wearing silk (for it is made after killing silk worms) and drinking cow's milk (because it really belongs to the

1. Kalyan, Yoga volume, 1935, pp. 729–730.

2. Walther Schubring, Doctrine of the Jains; pp. 316–19.

3. Ibid., p. 319.

calf),<sup>1</sup> but Jainism appears to have beaten all Hindu and Buddhist records in these respects. Parshwanath, the 23rd Tirthankara, started these doctrines before the Buddha. He is credited to have converted even wild tribes to his creed of Ahimsa or Non-violence. It is called the Jewel of Jainism. Leaving aside the Jain Munis, even the householder Jains do not take any food after dusk, lest some insects get into the food, and get eaten. Vegetarianism has not been carried to such limits by any other creed in India.

Mahatma Gandhi is a sterling example in the present times of the application of the principle of Non-violence, even in a field of human activity, so crooked and complicated as politics and National Economics. He somehow liberated India, successfully from the clutches of the strongest and widest Empire that ever existed in history; and that with hardly any bloodshed anywhere; and with no ill-will or hatred for the British, who had to peacefully 'quit India'. He also applied the Hindu and Jain doctrines of Aparigraha (Non-Possession) to enunciate his Principle of Trusteeship for the capitalists in the Communist Revolutions. In his Ashrama at Sewagram (Wardha, Maharashtra) even snakes and scorpions were never terrified, attacked or killed. There is a Jain village, Nagar Parker, in Sind (now in Pakistan), about 80 miles from the nearest Rly. Station. There also, it is reported that serpents get a similar sympathetic treatment; they even get hospitality; they are offered milk when they come. In return, they do not attack any body; they play with children, like domestic pets, and move about freely in houses. Somebody has to find by research, what percentage of them is really venomous, for it is well known that most varieties of serpents can be domesticated. They are not venomous.

In point of austerities also, the Jains appear to have beaten all records. After the original Hindu conception of Sannyasa (Renunciation), only at the age of 75 (it was nothing more

1. Gardner and Lois B. Murphy, *Asian Psychology*, pp.120-22,

than a mere retirement from household life ) there appears to have entered in human culture a wave towards hatred of married life, and a trend towards absolute celibacy, as the only proper way towards Spiritual Perfection. The Buddha started his Orders of male as well as female Bikshus as propagators of his new Faith. Sankara also, who practically expelled Buddhism—in its corrupted form in his days—from India and reinstalled Sanatana Hinduism, organized new Order of Hindu celibate monks ( Sannyasies ) as propagators of Hinduism. He claimed that self-realisation may be theoretically possible in household life, but perfect non-attachment was actually possible only in Sannyasa—celibate life. There were celibate Dervishes among the Sufies and the Jesuits among the Christians , who took the vow of Chastity, Purity and Obedience. To this day, Roman Catholic monks are unmarried. Among Hindus, celibacy was advocated by the Hatha Yogies, for awakening the Kundalini—a supreme fountain-head of miraculous mystic power—and it was only the medieval Bhakta mystics, who reversed the trend to a large extent. A householder can be a Perfect Bhakta—Lover of God—and at present even Kundalini Yogies<sup>1</sup> and Yog representatives of the Natha Siddhas<sup>2</sup> do not insist on perfect celibacy. Even a man of self-Realization—Jnana Yogi—like the recent Ramana Maharshi of south India, did not insist on the renunciation of household life.<sup>3</sup>

But Jainism puts a definite hurdle; a householder cannot go beyond the fifth stage ( Gunasthana ) of perfection.<sup>4</sup> Mahavira, the codifier of Jain doctrines, was a life celibate, not merely like the Buddha, who renounced after married life. He practised a lot of ascetic techniques (See, Varni Sandesh,

---

1. Gopi Krishna, Kundalini.

2. Raushan Nath Yogi, The Unseen Hand.

3. Mountain Path ( South India ), July 1971, p. 170 and Oct. 1971, pp. 218, 221.

4. Sadhu Santī Nath, Sadhana, pp. 17-19.

Mahavira Jayanti Number, March 1965, pp. 5-9 ). However, out of 24 Tirthankaras, at least 5 were married men, who renounced later. The Munis (celibate ascetic) perform the severest austerities, which is rather impossible in normal life. They wear a cloth before their mouths for perfecting their non-violence, lest any insects may happen to enter and get killed. They do not halt at any place for more than three days, except in the rainy season. They wear no shoes, and use no conveyance. They take only one meal in a day; and that they get by begging from, at the most, three houses or families; and only from such as are not likely to feel the feeding of a Muni a burden. They always go unexpected and uninvited for begging. They use no razors or scissors for shaving or cropping of hair; they pluck them when long. They carry no luggage, while roving about, and keep no money or writing material for correspondence. Jains believe that the mind cannot be purified until body and speech are purified (Tattvartha Sutra, Chap. IX, Sutra 4).

All this appears to be a distinct, mistaken over-emphasis on Non-violence (Ahimsa), Non-possession (Aparigraha) and Austerity (Tapa). Purity of Moral Character or Perfect Action is justifiably regarded as the Final Target of perfection in Jainism. Even Right Outlook and Right Knowledge are means for achieving it. But it is surprising, how even the Jains, who take credit for Syadvada or Holism, forgot to take note of the realistic standpoint in prescribing such celibacy, non-possession and austerities. Sex is a natural drive for man; the propagation of our species depends on it. How far it can be sublimated, to what percentage and in what percentage of Sadhakas? This should have been found out by a survey, before prescribing perfect celibacy for all Munis. No doubt in practice, the household life is fraught with complications and unhappiness. To be happy and yet married has been a problem for humanity. But why not find out the reasons of trouble and the remedies, instead of banning household life altogether for a seeker after perfect-

ion. In point of austerities and non-possession also, merely physical privations do not purify the mind; the purity of the latter itself is more essential. There were times when physical austerities won public esteem, and secured a following; but by now, people have become dis-illusioned. Our country was invaded, conquered, enslaved and demoralised for centuries, in spite of so many saints, Munis and Tapasvies.

Fortunately, it appears that this over-emphasis was very much the fault of the followers, who blindly followed old customs. Original Jain Texts can be quoted to show that what was advocated was not mere physical penance or austerity; that was only a preparation for spiritual penance or austerity, pursued for releasing man from Maya or Delusion. Tirthankara Parashwanatha himself preached that external penance and physical hardships are futile without inner purity and the elimination of passions. In Samanta Bhadra's Svayambhustotra there is a prayer to Rishabha, which says: 'You performed extreme external austerities, as a preparation for internal austerity.' There are other Jain texts (e. g. Ratna Karand, Sloka 33), which regard a non-attached householder as superior to a roving ascetic or Muni, who has not yet shed off his attachments. Tattvarthasutra (Chap IX, sutra 3) says that Dhyana has to be resorted to for stopping new Karmas (i. e. actions tainted with attachment), and for the elimination of old ones; and that such Dhyana is Internal Tapa (austerity); physical austerity is only a preparation for it. In the matter of austerities, Jainism is considerably at variance with Buddhism. The life of the Buddha himself, and his doctrine of the Middle Path, indicate that he advocated no extreme measures, even as a preparation.

Even as regards Non-violence, it appears that the Jain texts are not cursed with the 'Literal Mind'. They are realistic enough to state that only such a violence is condemnable, as is based on 'Delusion', or inspired by an evil motive. A

patient who dies on the Surgeon's table, in spite of the latter's adequate care or precaution, cannot be regarded as having been murdered. Killing enemies on the battlefield, when a battle cannot be avoided in self-defence or in the defence of the country, is not violence, according to the Jains. Similarly, if a serpent attacks, killing it in self-defence is not violence. Carelessly walking, where insects are moving about, is violence; but if, while moving on such a ground, a few insects are killed, in spite of all care, that is not regarded as violence. Mahatma Gandhi, the greatest advocate of Non-violence in modern times, regarded Poland's war against Hitler, in 1939, and India's war against Pakistani raiders in Kashmir, both in self-defence, as amounting to Non-violence. He allowed a calf to be shot dead, in order to save it from unbearable pangs of disease, when veterinary doctors declared it to be incurable. That is Ahimsa or Non-violence, with a touch of Realism in it ( Please see the discussion on this topic in the book 'Purushartha Siddhi Upaya'.

### 3. CONCLUSION

#### A Fervent Appeal

Except for the few above mentioned points of over-emphasis and lack of realism, the Jains, with their deep sincerity, combined with Catholic and rational outlook, are the best suited to evolve a Synthetic Yoga—a Union of All Schools of Yoga and Mysticism. Their Atheism is not a serious obstacle. The conception of a Personal God is alien also to Buddhism, to pantheistic Sufism, to Vedanta and Jnana Yoga, to Samkhya and more or less even to Patanjala Ashtanga Yoga.

Union of all religions is impossible. A lot of myths, philosophical and cosmological speculations and legends have got mixed up with them. A dogmatic attachment to prescribed formalities and rituals, merely on Faith, keeps each religion separate from others. Mysticism, on the other hand, is the essence of all religions; it does not insist on forms and on rituals but on

personal life. Mystics of all creeds and ages agree to the benefits of mystic life here on earth—the feeling of Unity, with the whole universe; and the Evolution of man, towards a tranquil yet efficient and realistic life—the Jiwan Mukta or Vitaraga state. These benefits would easily appeal even to the Rational Mind of modern man.

So, let some group, some mystic school, have the courage of conviction, and attempt a Synthesis of All Schools of Mysticism. Why not the Jains ?

There are of course wide differences in philosophy and doctrines between various schools of mysticism or Yoga. Prof. D. D. Malvania and Dr. Bhagchand Jain Bhaskar have, for instance, noted the points of convergence as well as divergence, between Jain and Buddhist Yogas; also between these Yogas and Patanjala Ashtanga Yoga (Papers submitted at Buddhist Yoga Seminar, Varanasi, Feb. 1971 ). Such an evaluation of differences is of little interest to one who is aiming at a synthesis. Let philosophers and Pandits discuss them. Why should Yogis do it ? They are concerned only with techniques. I would appeal to them, not to make a prestige issue of any of their techniques, and to refer techniques of all types of Yoga to Yogic Research.



**V A R D H M A N**

**VSM**

**Quality Hosiery Cotton Yarn**

*For*

- **BETTER STRENGTH**
- **ELEGANCE**
- **ECONOMY**

**Exporting Cotton Yarn to Eastern &  
Western Countries**



*Manufactured by :*

**VARDHMAN SPINNING & GENERAL MILLS LTD.**

**LUDHIANA ; ; INDIA**

**Gram ; "VARDHMAN"**

**Tele : 4801  
4802**

**U S E**  
**CHATONS**

for Vanity Wear and Costumes Jewellery

**CHATONS PRIVATE LIMITED**

**PARIJAT, 95, MARINE DRIVE**  
**B O M B Y - 2**

*Manufacturers of :*

**Quality Chatons & Rainbow 'Iris Stones'**  
**Vaccum Metalliser of Plastics**  
**Glass & Metal Articles**

*Works :*

**Andrewnagar, Ghodbunder Road, Bombay 68 (W. B.)**

**Phone : 242715; 661789**

## हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1. **Jaina Psychology**—  
Dr. Mohan Lal Mehta—Rs 8-00  
( Out of Print )
2. **Political History of Northern India from  
Jaina Sources**—Dr. Gulab Chandra Chou-  
dhary—Rs. 24-00
3. **Studies in Hemacandra's Desinama-  
mala**—Dr. Harivallabh C. Bhayani—Rs. 3-00
4. **Jaina Culture**—Dr. Mohan Lal Mehta—Rs. 10-00
5. **Jaina Philosophy**—Dr. Mohan Lal Mehta—  
Rs. 10-00
१. प्राकृत भाषा—डा० प्रबोध बेचरदास पंडित— ६० १-२०
७. जैन आचार—डा० मोहनलाल मेहता— ६० २-००
८. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-भाग १—  
पं० बेचरदास बोशी— ६० १२-००
९. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-भाग २—  
डा० जगदीशचन्द्र जैन व डा० मोहनलाल मेहता— ६० १२-००
१०. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-भाग ३—  
डा० मोहनलाल मेहता— ६० १२-००  
(उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा १५०० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत)
११. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-भाग ४—  
डा० मोहनलाल मेहता व प्रो० हीरालाल कापड़िया—६० १५-००
१२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-भाग ५—  
पं० अंबालाल शाह— ६० १५-००
१३. बौद्ध और जैन आगमों में नारी-जीवन—  
डा० कीमलचन्द्र खंन— ६० १२-००
१४. जीवन-दर्शन—श्री गोपीचन्द्र भाड़ीवाल— ६० ३-००
१५. यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन—डा० गोकुलचन्द्र जैन—६० २०-००  
(उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा ५०० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत)
१६. उत्तराध्ययन-सूत्र : एक परिशीलन—डा० सुदर्शनलाल जैन—६० २५-००  
(उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा ५०० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत)
१७. जैन-धर्म में महिला—डा० बशिष्ठनारायण सिन्हा— ६० २०-००

—लिखिए—

पाश्र्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

जैन इंस्टिट्यूट

आई. टी. आई. रोड, वाराणसी-३

## अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1. Lord Mahavira—Dr. Bool Chand	5.00
2. Hastinapura—Dr. Amar Chand	3.00
3. World Problems & Jaina Ethics—Dr. Beni Prasad	0.50
4. Jainism : The Oldest Living Religion—Dr. J. P. Jain	2.00
5. Mahavira—Dr. Amar Chand	0.50
6. Studies in Jaina Art—Dr. U. P. Shah	10.00
7. Jainism in Indian History—Dr. Bool Chand	0.50
8. Progress of Prakrit and Jaina Studies—Dr. B. J. Sandesara	1.00
9. Jaina Monastic Jurisprudence—Dr. S. B. Deo	3.00
10. An Early History of Orissa—Dr. Amar Chand	21.00
11. Literary Evaluation of Paumacariyam—Dr. K. R. Chandra	2.00
१२. जैन दार्शनिक साहित्य के विकास की रूपरेखा—पं० दलसुख मालवणिया	०.५०
१३. जैन संस्कृति का हृदय—पं० सुखलालजी	०.५०
१४. अन्तर्निरीक्षण—पं० सुखलालजी	०.५०
१५. जैन साहित्य की प्रगति—पं० सुखलालजी	१.००
१६. भगवान् महावीर—पं० दलसुख मालवणिया	०.५०
१७. आत्ममांसा—पं० दलसुख मालवणिया	२.००
१८. जैन अध्ययन की प्रगति—पं० दलसुख मालवणिया	०.५०
१९. गुजरात का जैनधर्म—श्री जिनविजयजी	१.००
२०. जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार—श्री फतहचन्द बेलानी	२.००
२१. भारत के प्राचीन जैन तीर्थ—डा० जगदीशचन्द्र जैन	२.००
२२. हिन्दू, जैन और हरिजन मन्दिर प्रवेश—श्री पृथ्वीराज जैन	१.००
२३. जीवन में स्याद्धाद—श्री चन्द्रशंकर शुक्ल	१.००
२४. हेमचन्द्राचार्य का शिष्यमण्डल—डा० भोगीलाल सांडेसरा	०.५०
२५. मगध—श्री वैजनाथ सिंह 'विनोद'	१.००
२६. सुवर्णभूमि में कालकाचार्य—डा० उमाकान्त शाह	१.००
२७. स्वाध्याय—महात्मा भगवानदीन	२.००
२८. महाभारत वस्तुपाल का साहित्य मण्डल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन—डा० भोगीलाल सांडेसरा	४.००

—लिखिए—

**पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान**

जैन इंस्टिट्यूट

आई. टी. आई. रोड, वाराणसी-५

## **Presrite**

**U. F. & M. F. moulding  
Powders**

## **Prescol**

**U. F. synthetic resins**

## **Plastic Moulds**

**for injection &  
compression moulding**



**The  
Quality Tag  
Renowned Throughout  
the Country**

Nuchem-5

**Edited and Published by Dr. Mohan Lal Mehta,  
Director, P. V. Research Institute, Varanasi-5.**

**Printed at Arun Press, B. 17/2, Tilbhandeshwar, Varanasi.**

**Phone : 66762**